पयस्विनी

समाज, संस्कृति और साहित्य : विचार और संवाद

पयस्विनी

समाज, संस्कृति और साहित्य : विचार और संवाद

जगदीश प्रसाद मण्डल

हिंदी अनुवाद

राम चन्द्र राय

पल्लवी प्रकाशन
बेरमा/निर्मली

PAYASVINEE

Essays, Addresses, Interviews and Dialogues on Society, Culture and Literature by Sh. Jagdish Prasad Mandal
Translated into Hindi by Sh. Ram Chandra Rai

Payasvinee brings together Jagdish Prasad Mandal's essays, addresses, interviews and dialogues on society, culture, literature and lived experience. Rooted in Mithila, the volume moves from reflections on religious belief, social customs and folk traditions to questions of caste, cultural dominance, marginal communities, language, education and literary responsibility.

Mandal writes from a questioning and socially engaged position. He re-examines inherited assumptions and asks how literature should respond to inequality, exclusion and social change. The volume also includes accounts of Maithili literary gatherings, recollections of writers and editors, and conversations on creativity, readership, criticism and the writer's relation to society.

The distinctive strength of **Payasvinee** lies in the closeness between thought and lived experience. Agriculture, village life, social struggle, language and literature emerge as interconnected parts of a human world. This Hindi translation brings Mandal's candid, reflective and argumentative voice to a wider readership while preserving the intellectual independence, social concern and cultural rootedness of the original.

Published by: Pallavi Prakashan
Tulsi Bhawan, Nehru Marg, Ward no. 06, Nirmali, District: Supaul, Bihar: 847452

First Edition: 2026
ISBN: 978-93-48865-84-7
Price: 300/-
Copyright: © Publisher (Pallavi Prakashan)

Printed by: Manav Art (Pallavi Prakashan)
Typesetting: Dr. Umesh Mandal, umeshberma@gmail.com
Cover Design: Mrs. Poonam Mandal, Nirmali, Supaul, Bihar- 847452

Website: http://pallavipublication.blogspot.com
Email: pallavi.publication.nirmali@gmail.com
Mobile: +91 99316 54742, +91 62006 35563
Font Source: Google Fonts

All rights reserved. No part of this book may be reproduced, distributed, transmitted, adapted, paraphrased, stored in a retrieval system, or processed in any form or by any means, including electronic, mechanical, digital, or artificial intelligence systems, without the prior written permission of the copyright holder or the publisher.

अनुक्रम

प्रस्तावना

अवतारवाद

संस्कार और संस्कार गीत

वर्चस्ववादी संस्कृति बनाम हाशिये के समाज का संघर्ष

अंतरराष्ट्रीय मैथिली सम्मेलन, 2011 : गुवाहाटी

'सगर राति दीप जरय' की 100वीं कथा-गोष्ठी के संदर्भ में

वेब कार्यक्रम, 29 जुलाई 2020

भाई राजनन्दन लाल दासजी की जीवन-यात्रा

गजेन्द्र ठाकुरजी के प्रश्नों के उत्तर

मुन्नाजी के प्रश्नों के उत्तर

मुकेश दत्तजी के प्रश्नों के उत्तर

परिसंवाद : 01

परिसंवाद : 02

प्रस्तावना

किसी पुस्तक को समझने का एक तरीका यह है कि उसके विषयों की सूची बना ली जाए; दूसरा यह कि उन विषयों के भीतर सक्रिय उस बेचैनी को पहचाना जाए, जो लेखक को एक प्रश्न से दूसरे प्रश्न तक ले जाती है। 'पयस्विनी' को केवल विषयों की दृष्टि से पढ़ें तो इसमें धर्म और अवतारवाद है, संस्कार और संस्कार-गीत हैं, संस्कृति और सामाजिक वर्चस्व है, भाषा और साहित्य है, मिथिला का भूगोल और कृषि-जीवन है, साहित्यिक आयोजन और संस्थाएँ हैं, एक साहित्यसेवी की जीवन-यात्रा है, लेखक के निजी जीवन और सृजन से जुड़े प्रश्नोत्तर हैं तथा मैथिली साहित्य के वर्तमान और भविष्य पर विस्तृत परिसंवाद है। लेकिन इन सबको अलग-अलग खण्ड मानकर पढ़ना उस भीतरी सूत्र को खो देना होगा जो आरम्भ से अन्त तक पुस्तक को बाँधे रखता है। वह सूत्र है, विरासत में मिली मान्यताओं को जीवन और विवेक की कसौटी पर परखने का आग्रह।

जगदीश प्रसाद मण्डल की वैचारिक पहचान समझने के लिए यह बात आरम्भ में ही ध्यान में रखनी चाहिए कि वे विचार को जीवन से अलग करके नहीं देखते। उनके लिए विचार केवल पढ़े हुए ग्रन्थों, स्वीकृत सिद्धान्तों अथवा किसी स्थापित विचारक की छाया से नहीं बनता; उसका सबसे बड़ा स्रोत मनुष्य का अपना जिया हुआ जीवन है। खेत, श्रम, परिवार, गाँव, सामाजिक विषमता, राजनीतिक सक्रियता, भाषा, साहित्य और समय, ये सब उनके यहाँ अलग-अलग अनुभव नहीं, एक ही जीवन के परस्पर जुड़े हुए धरातल हैं। शायद इसी कारण उनका प्रश्न कई बार वहाँ से उठता है जहाँ अकादमिक विमर्श सामान्यतः

समाप्त हो जाता है: विचार व्यवहार में कितना उतरता है?

'पयस्विनी' का आरम्भ ही ऐसे क्षेत्र से होता है जहाँ प्रश्न करना सामान्यतः सहज नहीं माना जाता। 'अवतारवाद' में मण्डलजी धार्मिक आख्यानों, पुराणों, शास्त्रीय उल्लेखों और लोकविश्वासों को सामने रखकर उनके भीतर तर्क की जगह खोजते हैं। ईश्वर के स्वीकृत गुणों और अवतार-कथाओं में वर्णित कर्मों के बीच जो विसंगतियाँ उन्हें दिखाई देती हैं, उन्हें वे अनदेखा नहीं करते। यदि ईश्वर सर्वव्यापी, सर्वज्ञ, दयालु और सर्वरक्षक है तो हिंसा, छल, पक्षधरता और अवतार की आवश्यकता को किस प्रकार समझा जाए? लेखक इन प्रश्नों को केवल भावनात्मक प्रतिवाद के रूप में नहीं रखता; वह वैदिक, पौराणिक और दार्शनिक सन्दर्भों तक जाता है, अवतार-धारणा के विकासक्रम पर विचार करता है और अन्ततः मनुष्य के ज्ञान, विवेक तथा आत्मबल को केन्द्र में लाता है।

यहीं मण्डलजी की विचार-पद्धति का एक महत्त्वपूर्ण स्वरूप सामने आता है। वे परम्परा के बाहर खड़े होकर उस पर पत्थर नहीं फेंकते; वे उसके भीतर प्रवेश करते हैं, उसके अपने तर्क को सामने रखते हैं और फिर उसी के भीतर प्रश्न उत्पन्न करते हैं। इस पद्धति में असहमति है, कई जगह तीखापन भी है, लेकिन उसका आधार केवल निषेध नहीं है। मूल आग्रह यह है कि कोई विचार केवल पुराना होने के कारण सत्य और कोई मान्यता केवल प्रतिष्ठित होने के कारण प्रश्नातीत नहीं हो जाती। मनुष्य की बौद्धिक गरिमा इस बात में है कि वह प्राप्त विश्वास को समझे, परखे और आवश्यक हो तो उसके सामने अपना प्रश्न रख सके।

'संस्कार और संस्कार गीत' में यही प्रश्नधर्मिता धार्मिक आख्यान से निकलकर लोकजीवन के भीतर प्रवेश करती है। संस्कार क्या है? वह मनुष्य के जीवन को कहाँ तक प्रभावित करता है? कब वह चेतना का हिस्सा रहता है और कब केवल बाहरी अनुष्ठान बन जाता है? जन्म,

विवाह और मृत्यु जैसे जीवन-प्रसंगों के बीच लोकगीत, विशेषकर स्त्रियों के कण्ठ में जीवित संस्कार-गीत, किस प्रकार अनुभव और सामाजिक स्मृति को पीढ़ी-दर-पीढ़ी आगे ले जाते हैं?

यह खण्ड 'पयस्विनी' की सांस्कृतिक दृष्टि को समझने के लिए विशेष महत्त्व रखता है। संस्कृति यहाँ केवल शास्त्रों में लिखी हुई व्यवस्था नहीं है। वह उन स्त्रियों की स्मृति में भी है जिनके लिए औपचारिक शिक्षा के अवसर सीमित रहे, लेकिन जिन्होंने गीतों में सम्बन्ध, पीड़ा, उल्लास, सामाजिक व्यवहार और पीढ़ियों का अनुभव सँजोया। इस दृष्टि में मौखिक परम्परा लिखित ज्ञान की निम्नतर प्रति नहीं, ज्ञान का अपना स्वतंत्र क्षेत्र है। साथ ही मण्डलजी लोकपरम्परा को भी आलोचना से मुक्त नहीं रखते। किस अवसर का कौन-सा गीत है, उसके अर्थ और प्रयोग में कहाँ अन्तर आया और जानकारी के अभाव में कहाँ परम्परा स्वयं विकृत हुई, इस पर भी उनकी दृष्टि जाती है। अर्थात् लोक के प्रति सम्मान उनके यहाँ लोक के अन्धस्वीकार में नहीं बदलता।

यहीं से सांस्कृतिक प्रश्न सामाजिक शक्ति-संबंधों के प्रश्न में बदलता है। 'वर्चस्ववादी संस्कृति बनाम हाशिये के समाज का संघर्ष' में लेखक पूछता है कि संस्कृति आखिर किसकी है। कौन-सी जीवन-पद्धति सामान्य संस्कृति कहलाती है? किसकी भाषा परिनिष्ठित मानी जाती है? किसके अनुभव साहित्य में प्रतिष्ठित होते हैं? किसके मूल्य पूरे समाज के मूल्य घोषित कर दिए जाते हैं? और वह विशाल जीवन कहाँ जाता है जो खेत में श्रम करता है, समाज को चलाता है, लेकिन सांस्कृतिक प्रतिनिधित्व में बराबर स्थान नहीं पाता?

मण्डलजी की विशिष्टता इस बिन्दु पर और स्पष्ट होती है। वे हाशिये को केवल करुणा का विषय नहीं बनाते। हाशिये का मनुष्य उनके यहाँ अपने अनुभव, श्रम, भाषा और ज्ञान के साथ उपस्थित है। इसलिए प्रश्न केवल यह नहीं कि उसके प्रति सहानुभूति कितनी है; प्रश्न

यह भी है कि ज्ञान, संस्कृति और साहित्य की संरचना में उसकी भागीदारी कितनी है। यह दृष्टि दया से आगे जाकर प्रतिनिधित्व और अधिकार तक पहुँचती है।

इसी प्रसंग में भाषा और साहित्य का उनका भेद महत्त्वपूर्ण हो उठता है। भाषा संवाद का माध्यम है, साहित्य समाज का दर्पण; पर दर्पण तभी सार्थक है जब उसमें समाज सचमुच दिखाई दे। जिस समाज में अनेक जातियाँ, आर्थिक स्तर, क्षेत्रीय भिन्नताएँ, स्त्रियाँ, किसान, श्रमिक और उपेक्षित समुदाय हैं, क्या साहित्य में उनके जीवन की समुचित उपस्थिति है? यदि दर्पण में समाज का केवल सुविधासम्पन्न हिस्सा दिखाई दे तो दर्पण की चमक उसके अधूरेपन को छिपा नहीं सकती।

मैथिली की तथाकथित 'परिनिष्ठित' भाषा के प्रश्न पर मण्डलजी का विचार इसी सामाजिक दृष्टि का भाषिक विस्तार है। वे भाषा को किसी एक क्षेत्र, जाति अथवा शिक्षित समूह की स्थिर सम्पत्ति मानने से इनकार करते हैं। एक ही गाँव में अनेक जातियों का सामाजिक जीवन अलग हो सकता है और उनकी बोली-वाणी में भी अन्तर हो सकता है। समान जातीय पृष्ठभूमि के लेखक भी अलग शिक्षा, अनुभव और जीवन-संसार के कारण भिन्न भाषा लिख सकते हैं। इस दृष्टि में भाषा केवल व्याकरण का ढाँचा नहीं, समाज की बहुविध जीवित स्मृति है। मानक की आवश्यकता अपनी जगह है, लेकिन मानक यदि जीवित विविधता को निरस्त करने लगे तो वह भाषा के विकास का साधन न रहकर उसके सामाजिक विस्तार की सीमा बन सकता है।

मण्डलजी के चिन्तन का दूसरा महत्त्वपूर्ण सूत्र है वर्तमान। वे अतीत को अस्वीकार नहीं करते। 'पयस्विनी' में वे बार-बार शास्त्रों, इतिहास, विद्यापति, ज्योतिरीश्वर, भाषा-विकास और साहित्यिक परम्परा की ओर लौटते हैं। लेकिन लौटना उनके लिए वहीं ठहर जाना नहीं है। अतीत से सीखना है, उसे वर्तमान के ऊपर शासन करने का

अधिकार नहीं देना। बीते युग की कसौटी से वर्तमान जीवन और वर्तमान साहित्य का पूर्ण मूल्यांकन सम्भव नहीं, क्योंकि हर समय अपनी समस्याएँ और अपनी आवश्यकताएँ लेकर आता है।

यहीं उनकी 'वर्तमान में जीने' की धारणा को गहराई से समझने की आवश्यकता है। यह क्षणजीविता नहीं है, न भविष्य के प्रति उदासीनता। इसके भीतर कर्म का एक स्पष्ट दर्शन है: भविष्य कोई अलग तैयार प्रदेश नहीं, वर्तमान में किए जा रहे कर्मों का परिणाम है। इसीलिए मण्डलजी बार-बार प्रतीक्षा के विरुद्ध सक्रियता को रखते हैं। अवसर बाहर से आएगा, कोई संस्था सब कुछ कर देगी, अगली पीढ़ी भाषा को बचा लेगी अथवा भविष्य अपने आप बेहतर हो जाएगा, यह निष्क्रिय आशा उनके स्वभाव से मेल नहीं खाती। जो जहाँ है, वहीं से अपनी शक्ति जगाए।

यही दृष्टि आधुनिकता की उनकी समझ को भी अलग बनाती है। आधुनिक साधनों का होना आधुनिक चेतना की गारंटी नहीं है। मोबाइल, कम्प्यूटर, आधुनिक शिक्षा, यातायात और वैश्विक सम्पर्क जीवन को गति दे सकते हैं, लेकिन जाति, दहेज, भ्रूणहत्या, स्त्री-असमानता, सामाजिक वर्चस्व और अन्धविश्वास यदि बने रहें तो साधनों की आधुनिकता के बीच चेतना पुरानी रह सकती है। मण्डलजी के लिए आधुनिकता अन्ततः व्यवहार का प्रश्न है। हम जो कहते हैं और जो करते हैं, दोनों के बीच की दूरी उनकी सामाजिक आलोचना की सबसे तीखी कसौटियों में से एक है।

यहाँ उनके कृषक जीवन का महत्त्व केवल जीवनी-सूचना के रूप में नहीं, विचार की पद्धति के रूप में सामने आता है। किसान मिट्टी को सिद्धान्त से नहीं, उसके गुण, नमी, समय, बीज और परिणाम से पहचानता है। कौन-सी जमीन में क्या होगा, यह केवल इच्छा से तय नहीं होता; परिस्थिति समझनी पड़ती है, श्रम करना पड़ता है और परिणाम को देखना पड़ता है। मण्डलजी की सामाजिक दृष्टि में भी ऐसी

ही व्यावहारिकता दिखाई देती है। विचार तभी सार्थक है जब उसका सम्बन्ध वास्तविक जीवन से बने। संभवतः इसी कारण उनके यहाँ अमूर्त आदर्श की अपेक्षा जमीन, पानी, श्रम, उत्पादन, अवसर और व्यवहार बार-बार विचार की कसौटी बनते हैं।

गुवाहाटी में आयोजित अन्तरराष्ट्रीय मैथिली सम्मेलन के प्रसंग में मिथिला और कामरूप का सम्बन्ध इसी धरातल पर देखा गया है। लेखक सांस्कृतिक निकटता को केवल प्राचीन स्मृति अथवा भावात्मक सम्बन्ध से नहीं जोड़ता। वह मिट्टी, जल, वर्षा, खेती, धान, पटुआ, खान-पान, लोकव्यवहार और ऐतिहासिक आवागमन तक जाता है। भूगोल उसके यहाँ निष्क्रिय पृष्ठभूमि नहीं, जीवन का सक्रिय घटक है। मिट्टी उत्पादन को प्रभावित करती है, उत्पादन जीवन-पद्धति को, जीवन-पद्धति आचार-विचार को और वही आगे संस्कृति को आकार देती है।

इसलिए 'पयस्विनी' में संस्कृति आकाश से उतरती हुई कोई अमूर्त सत्ता नहीं। वह माटि-पानि, श्रम, उत्पादन, प्रकृति, जीविका और मनुष्य के परस्पर सम्बन्धों से बनती है। यह दृष्टि संस्कृति को शास्त्रीय गौरव से नीचे उतारती नहीं; बल्कि उसका आधार विस्तृत करती है। शास्त्र संस्कृति का एक हिस्सा हो सकता है, पूरा जीवन नहीं। खेतिहर का अनुभव, स्त्री का गीत, श्रमिक की भाषा और समाज के छोटे-से-छोटे समूह की जीवन-पद्धति भी उस सांस्कृतिक संसार की सहभागी है।

'सगर राति दीप जरय' की सौवीं कथा-गोष्ठी के प्रसंग में यही सामाजिकता साहित्यिक सार्वजनिकता का रूप लेती है। यहाँ प्रश्न केवल अच्छी रचना लिखने का नहीं, ऐसा साहित्यिक समाज बनाने का है जिसमें संवाद सम्भव हो। कौन किसके कार्यक्रम में जाता है, मतभेद को निजी विरोध में क्यों बदला जाए, मंच किसका है और साहित्यिक आयोजन कितने खुले हैं, ये प्रश्न मामूली दिखाई दे सकते हैं, लेकिन

इनके भीतर साहित्यिक संस्कृति की लोकतांत्रिकता का प्रश्न छिपा है।

मण्डलजी मतभेद को समाप्त करने की बात नहीं करते। विचारों का इतिहास स्वयं विभिन्न मतों का इतिहास है। उनके लिए समस्या मतभेद नहीं, संवादहीनता है। लक्ष्य यदि भाषा, साहित्य और समाज का विकास है तो विचार अलग हो सकते हैं, पर साझा क्षेत्र नष्ट नहीं होना चाहिए। इस अर्थ में उनकी साहित्यिक लोकतांत्रिकता सामाजिक लोकतांत्रिकता से अलग नहीं है। जिस समाज में हाशिये की भागीदारी आवश्यक है, उसी तरह साहित्य में भी मंच, पाठक, लेखक और संस्था के बीच खुला सम्बन्ध जरूरी है।

29 जुलाई 2020 के वेब कार्यक्रम में 'मिथिला जीवन' का विवेचन इस दृष्टि को और ठोस बनाता है। कोसी, कमला और दूसरी नदियाँ; अतिवृष्टि, जलप्लावन और सूखा; भूमि और जमींदारी; कृषि और खेतिहर जीवन; सामाजिक संघर्ष और विकास की आकांक्षा, ये सब उनके लिए साहित्य से बाहर के विषय नहीं हैं। जिस समाज की अर्थव्यवस्था, भूगोल और श्रम-संरचना ऐसी है, उसके साहित्य को इन जीवन-सत्यों से अलग करके समझना मण्डलजी के लिए सम्भव नहीं।

यहीं उनके साहित्य-विचार का सबसे विशिष्ट पक्ष उभरता है: वे साहित्य को समाज का केवल 'चित्र' नहीं मानते, उसे जीवन की प्रक्रिया से जोड़ते हैं। साहित्य समाज का दर्पण है, यह परिचित कथन है; लेकिन मण्डलजी इस कथन के साथ दूसरा प्रश्न जोड़ते हैं: दर्पण समाज से कितनी दूरी पर रखा गया है? साहित्य वैचारिक रूप से समाज का हितैषी हो सकता है, फिर भी व्यावहारिक जीवन से दूर हो सकता है। उनके लिए समकालीन साहित्य की बड़ी चुनौती इसी दूरी को कम करना है।

यह आग्रह उनकी आलोचना को केवल वैचारिक घोषणाओं से अलग करता है। किसी रचना में किसान, स्त्री, गरीब अथवा पिछड़ा पात्र उपस्थित हो जाने से साहित्य स्वतः सामाजिक नहीं हो जाता। वास्तविक प्रश्न यह है कि रचना उस जीवन की संरचना, संघर्ष, गरिमा

और अन्तर्विरोध को कितना समझती है। विषय सामाजिक हो सकता है, दृष्टि फिर भी ऊपर से देखनेवाली हो सकती है। मण्डलजी का आग्रह विषय से अधिक जीवन के भीतर जाकर देखने पर है।

भाई राजनन्दन लाल दासजी की जीवन-यात्रा इसी दृष्टि का एक व्यावहारिक उदाहरण प्रस्तुत करती है। यहाँ साहित्य का इतिहास केवल लेखक और कृति से नहीं बनता। पत्रिका निकालनेवाला, पुस्तक प्रकाशित करनेवाला, आयोजन करनेवाला, संस्थाएँ खड़ी करनेवाला और भाषा के लिए सार्वजनिक जगह बनानेवाला व्यक्ति भी साहित्यिक इतिहास का निर्माता है। इस प्रसंग के माध्यम से 'पयस्विनी' सृजन की धारणा को लेखन से आगे साहित्यिक समाज के निर्माण तक विस्तृत करती है।

पुस्तक के उत्तरार्द्ध में प्रश्नोत्तर आते हैं और यहीं मण्डलजी का व्यक्तित्व अधिक प्रत्यक्ष रूप से खुलता है। गजेन्द्र ठाकुरजी, मुन्नाजी और मुकेश दत्तजी के प्रश्न शिक्षा, रोजगार, खेती, सामाजिक जीवन, साहित्यिक आरम्भ, रचना-प्रक्रिया, पाठक, आलोचना, पुरस्कार और भविष्य तक जाते हैं। इन उत्तरों में एक बात विशेष ध्यान खींचती है: मण्डलजी अपने साहित्यिक निर्माण को किसी एक गुरु, लेखक अथवा बाहरी प्रभाव से जोड़कर नहीं देखते। वे स्वीकार करते हैं कि पढ़ा बहुत, लोगों से विचार और सुझाव भी लिए, लेकिन अपने विचार और कर्म को निर्धारित करनेवाला मूल स्रोत उनका अपना जीवन रहा।

इस कथन को 'पयस्विनी' समझने की कुंजी की तरह पढ़ा जा सकता है। इसका अर्थ आत्मनिर्भरता का कोई दम्भ नहीं है। इसका अर्थ यह है कि पढ़ा हुआ ज्ञान तभी अपना होता है जब वह जीवन के अनुभव से गुजरकर नया अर्थ ग्रहण करे। इसीलिए मण्डलजी के यहाँ पुस्तक और खेत, दर्शन और व्यवहार, साहित्य और राजनीति, भाषा और समाज अलग-अलग कोठरियों में नहीं रहते। जीवन उनके विचारों का प्रयोग-क्षेत्र भी है और परीक्षण-क्षेत्र भी।

इस सन्दर्भ में उनकी साहित्यिक यात्रा का देर से आरम्भ होना भी अर्थपूर्ण है। पचास वर्ष की आयु के बाद व्यवस्थित साहित्य-सृजन शुरू होना किसी विलम्ब की कथा मात्र नहीं। उससे पहले का जीवन खाली समय नहीं था; वही अनुभव आगे साहित्य की सामग्री और दृष्टि बना। खेत, परिवार, सामाजिक संघर्ष, राजनीतिक सक्रियता और ग्रामजीवन साहित्य से पूर्व की अवस्थाएँ नहीं, साहित्य की भूमिगत तैयारी बन गए। इसी कारण उनके लेखन में अनुभव कई बार कल्पना से पहले खड़ा दिखाई देता है।

सौम्या झा के साथ परिसंवाद में नयी पीढ़ी के लिए उनका छोटा-सा कथन, अतीत को भूलिए नहीं, लेकिन वर्तमान को अपना जीवन बनाइए, वस्तुतः उनकी व्यापक दृष्टि को संक्षेप में व्यक्त करता है। इसमें परम्परा और आधुनिकता के बीच किसी युद्ध की कल्पना नहीं है। अतीत स्मृति और सीख का स्रोत है; जीवन वर्तमान में घटित होता है। यदि परम्परा वर्तमान को देखने की क्षमता छीन ले तो वह बोझ बन सकती है, और यदि वर्तमान स्मृति से पूरी तरह कट जाए तो अपनी ऐतिहासिक समझ खो सकता है। मण्डलजी इन दोनों के बीच जाग्रत वर्तमान का पक्ष लेते हैं।

अन्तिम परिसंवाद 'मैथिली साहित्य : वर्तमान परिदृश्य' में पुस्तक का पूरा वैचारिक संसार जैसे साहित्य के प्रश्न में संकेंद्रित हो जाता है। मैथिली की प्रतिष्ठा, साहित्यिक आन्दोलन, समकालीन प्रवृत्तियाँ, समस्याएँ, अन्य भाषाओं से संवाद और नये लेखकों की सम्भावनाएँ, सब पर बात होती है। यहाँ उनका आत्मविश्वास विशेष रूप से उल्लेखनीय है। मैथिली को किसी दूसरी भाषा के सामने हीन मानने का कारण वे नहीं देखते; लेकिन यह आत्मविश्वास आत्मसन्तोष भी नहीं है। वे तुरंत पूछते हैं कि वर्तमान जीवन को साहित्य कितनी गहराई से पकड़ रहा है।

यही कारण है कि लिपि जैसी महत्त्वपूर्ण समस्या पर भी वे

प्राथमिकताओं का प्रश्न उठाते हैं। जहाँ बच्चा स्कूल तक नहीं पहुँच पा रहा, वहाँ केवल लिपि-विवाद में उलझना पर्याप्त समाधान नहीं। इसका अर्थ लिपि का महत्त्व घटाना नहीं, वास्तविक जीवन की समस्याओं का क्रम पहचानना है। मण्डलजी की दृष्टि बार-बार विचार को जीवन की जमीन पर वापस ले आती है। सिद्धान्त की गरिमा तभी बचती है जब वह मनुष्य की वास्तविक आवश्यकता से संवाद करता रहे।

अंगिका, बज्जिका और मैथिली के सम्बन्ध पर उनकी बात इसी व्यावहारिक सामाजिक दृष्टि का दूसरा रूप है। भाषाएँ अपनी क्षेत्रीय पहचान रखती हैं, लेकिन मनुष्य का जीवन कठोर भाषिक सीमाओं में नहीं चलता। व्यापार, आवागमन, विवाह, सांस्कृतिक कार्यक्रम और दैनिक सम्पर्क भाषाओं के बीच स्वाभाविक संवाद बनाते हैं। इस तरह उनके यहाँ भाषिक अस्मिता और भाषिक सहअस्तित्व विरोधी नहीं हैं। अपनी भाषा के प्रति निष्ठा का अर्थ दूसरी भाषा से कट जाना नहीं।

नये लेखक के लिए भी उनका उत्तर इसी कर्म-दृष्टि से निकलता है। अवसर कहीं बाहर से आनेवाली वस्तु नहीं। समाज अपने भीतर असंख्य जीवन, प्रश्न और सम्भावनाएँ लिए हुए है। लेखक की दृष्टि उन्हें पहचानती है। व्यक्ति समाज की इकाई है, पर वह दुनिया की भी इकाई है। स्थानीय जीवन से उठकर व्यापक मनुष्यता तक पहुँचना सम्भव है, बशर्ते लेखक अपने समाज को पर्याप्त गहराई से देख सके।

इस बिन्दु पर 'पयस्विनी' की स्थानीयता का अर्थ भी स्पष्ट होता है। मिथिला इस पुस्तक की सीमा नहीं, उसकी दृष्टि की जमीन है। स्थानीय अनुभव जितना सच्चा और गहरा होगा, उसके भीतर का मानवीय अर्थ उतनी दूर तक जा सकता है। खेत केवल मिथिला का खेत नहीं रह जाता, श्रम और अधिकार का प्रश्न बन जाता है; संस्कार-गीत केवल एक क्षेत्र का गीत नहीं रहता, स्त्री-स्मृति और मौखिक ज्ञान का प्रश्न बन जाता है; मैथिली की भाषिक बहुलता दुनिया की हर जीवित भाषा के मानक और विविधता के सम्बन्ध पर विचार करने की जमीन

बन सकती है।

'पयस्विनी' की रचना-प्रकृति भी इसी कारण बहुरूपी है। निबन्ध, वक्तव्य, जीवन-लेख, प्रश्नोत्तर और परिसंवाद एक ही शैली में नहीं चलते। कहीं लेखक अकेला विचार करता है, कहीं सभा के सामने बोलता है, कहीं किसी व्यक्ति के कर्ममय जीवन को दर्ज करता है, कहीं प्रश्नकर्ता उसे अपने जीवन की ओर लौटने के लिए बाध्य करता है। यह विविधता किसी असंगति का परिणाम नहीं, उस जीवित वैचारिक संसार का संकेत है जो अलग-अलग परिस्थितियों में अपना रूप बदलता है।

इस बहुरूपता के कारण कुछ स्थायी सरोकार अलग-अलग प्रसंगों में लौटते अवश्य हैं: वर्तमान, समाज और साहित्य का सम्बन्ध, अपनी भाषा के प्रति विश्वास, हाशिये की भागीदारी, कर्म और आत्मबल। लेकिन इन्हें मात्र पुनरावृत्ति मानना उचित नहीं होगा। किसी भाषण में सामाजिक सिद्धान्त के रूप में कही गयी बात प्रश्नोत्तर में व्यक्तिगत अनुभव बन जाती है; भाषा पर कही गयी बात साहित्यिक प्रतिनिधित्व तक पहुँचती है; वर्तमान की बात लेखक के अपने जीवन-दर्शन से जुड़ जाती है। ये लौटते हुए सूत्र पुस्तक के वैचारिक केन्द्र को पहचानने में सहायता करते हैं।

फिर भी 'पयस्विनी' को किसी क्रमबद्ध दार्शनिक ग्रन्थ की तरह नहीं पढ़ना चाहिए। वह पहले कोई सिद्धान्त परिभाषित कर फिर अध्याय-दर-अध्याय उसका प्रमाण प्रस्तुत नहीं करती। उसका विचार जीवन के प्रसंगों से निकलता है। कहीं प्रश्न पहले आता है, उत्तर बाद में किसी दूसरे प्रसंग में अधिक साफ होता है। कहीं अनुभव सिद्धान्त से पहले बोलता है। यही उसकी संरचनात्मक प्रकृति और उसकी जीवितता है।

हिन्दी पाठक के लिए इस पुस्तक का महत्त्व केवल इतना नहीं कि वह एक मैथिली लेखक के विचारों से परिचित होगा। इसके माध्यम

से वह मिथिला के सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन, कृषि और भूगोल, जातीय संरचना, लोकस्मृति, भाषिक बहस, साहित्यिक संस्थाओं और आधुनिकता के प्रश्नों के भीतर प्रवेश करेगा। साथ ही उसके सामने व्यापक प्रश्न भी आएँगे: परम्परा को कैसे पढ़ा जाए? संस्कृति में किसकी आवाज शामिल है? भाषा का मानक किसके जीवन से बनता है? साहित्य किस समाज का प्रतिनिधित्व करता है? आधुनिक साधन और आधुनिक चेतना में क्या अन्तर है? और विचार का वास्तविक मूल्य उसके कथन में है या जीवन से उसके सम्बन्ध में?

हिन्दी अनुवाद इसीलिए केवल भाषिक स्थानान्तरण नहीं है। मैथिली मूल की स्थानीयता को मिटाकर सहज हिन्दी बना देना इस कृति के साथ न्याय नहीं होगा। 'मड़वा', संस्कार-गीत, मिट्टी, खेती, क्षेत्रीय बोली, साहित्यिक संस्था और सामाजिक संरचना जैसे प्रसंग उसी जीवन-जगत के वाहक हैं जहाँ से विचार उत्पन्न हुआ है। अनुवाद की जिम्मेदारी पाठक को उस संसार से बचाना नहीं, उसके भीतर प्रवेश करने योग्य भाषा उपलब्ध कराना है।

'पयस्विनी' स्वयं अन्धस्वीकार के विरुद्ध खड़ी है, इसलिए उसका सम्मान भी अन्धस्वीकार से नहीं किया जा सकता। जहाँ लेखक का तर्क स्वीकार्य लगे, वहाँ उससे सहमति हो सकती है; जहाँ प्रश्न उठे, वहाँ पाठक को अपना प्रश्न रखने का पूरा अधिकार है; जहाँ ऐतिहासिक अथवा दार्शनिक मतभेद हों, वहाँ प्रमाण खोजे जाने चाहिए। प्रश्न करनेवाली पुस्तक को प्रश्न से ऊपर रख देना उसकी आत्मा के विरुद्ध होगा।

मण्डलजी की विशिष्टता अन्ततः किसी एक मत में नहीं, देखने की इस पद्धति में है। वे जीवन को सिद्धान्त का उदाहरण बनाने की अपेक्षा सिद्धान्त को जीवन की कसौटी पर रखते हैं। अतीत को जानते हैं, पर वर्तमान को उसके हवाले नहीं करते। अपनी भाषा पर विश्वास करते हैं, पर उसकी सामाजिक विविधता को दबाना नहीं चाहते।

हाशिये की बात करते हैं, पर उसे दया का पात्र नहीं बनाते। साहित्य को समाज का दर्पण कहते हैं, पर दर्पण के सामने यह प्रश्न भी रखते हैं कि उसमें पूरा समाज दिखाई दे रहा है या नहीं। और भविष्य की बात करते हुए उसकी जिम्मेदारी वर्तमान के कर्म पर डालते हैं।

इसीलिए 'पयस्विनी' केवल विचारों का संकलन नहीं, एक रचनाकार के सामाजिक आत्मसंवाद का दस्तावेज बन जाती है। यहाँ लेखक अपने समाज को बाहर खड़े होकर नहीं देखता। वह उसी मिट्टी, उसी भाषा, उसी असमानता, उसी परम्परा और उसी संघर्ष का हिस्सा है जिसकी आलोचना करता है। उसकी असहमति बाहरवाले की अस्वीकृति नहीं, भीतरवाले की बेचैनी है; और उसका आशावाद किसी अमूर्त भविष्य में नहीं, मनुष्य की कर्मशील क्षमता में निहित है।

शायद इसी बिन्दु पर 'पयस्विनी' का सबसे संक्षिप्त परिचय सम्भव है: यह जीवन से अर्जित प्रश्नों की, जाग्रत विवेक की और कर्मशील वर्तमान की पुस्तक है।

हिन्दी के पाठकों के सामने इसे प्रस्तुत करते हुए मेरी अपेक्षा इतनी ही है कि वे इसे केवल एक भाषा से दूसरी भाषा में आई कृति के रूप में न पढ़ें। इसे एक जीवित संवाद की तरह पढ़ें। जहाँ लेखक बोलता है, वहाँ सुनें; जहाँ प्रश्न करता है, वहाँ अपने उत्तर खोजें; और जहाँ असहमति की जगह बनती है, वहाँ उस जगह को बचाए रखें।

क्योंकि 'पयस्विनी' की सबसे बड़ी शक्ति शायद किसी अन्तिम उत्तर में नहीं, उस दृष्टि में है जो मनुष्य को बार-बार अपने विश्वास, अपने समाज और अपने कर्म को नये सिरे से देखने के लिए बाध्य करती है।

अवतारवाद

जीव और ईश्वर - जो शरीर धारण करता और छोड़ता है, जन्म लेता और मरता है, वह संसारी जीव होता है। लेकिन जो सर्वत्र व्याप्त, सर्वशक्तिमान और सर्वरक्षक गुणों से युक्त है, वह ईश्वर है। शास्त्रों में ईश्वर के जो लक्षण बताए गए हैं, उनके अनुसार वह सबका पालनकर्ता भी है। उसका स्वभाव क्रूर हो ही नहीं सकता, क्योंकि वह परम दयालु है। साथ ही वह सर्वत्र व्याप्त है, इसलिए उसे कहीं आने-जाने की आवश्यकता ही कैसे हो सकती है?

प्रश्न उठता है कि उसने मछली और कछुए का रूप क्यों धारण किया? इस रूप में आने का क्या प्रयोजन था? मत्स्यावतार लेकर शंखासुर की हत्या क्यों की, जबकि वह स्वयं सर्वपालक, सर्वव्यापी और परम दयालु है? उसे किसी से द्वेष क्यों हुआ? वह सूअर बनकर हिरण्याक्ष से पृथ्वी छीनकर अपने मुँह में क्यों रख लेता है? क्या पृथ्वी बच्चों के खेलने की गेंद जैसी है कि उसे मुँह में रखकर दूसरी पृथ्वी पर खड़े होकर हिरण्याक्ष से लड़ता रहे और अन्ततः उसकी हत्या कर दे? इतना ही नहीं, नरसिंह का अवतार लेकर लोहे का खम्भा फाड़कर हिरण्यकश्यपु का पेट चीरकर उसकी हत्या कर देता है। क्या ईश्वर सबसे बड़ा हत्यारा है? वामन रूप धारण कर राजा बलि से तीन पग भूमि माँगकर उसका पूरा राज्य हड़प लेता है। क्या संसार का सबसे बड़ा धोखेबाज वही था? ऐसे धोखेबाज की आराधना करने से कैसा फल मिलेगा, इस पर स्वयं विचार किया जा सकता है। भीख माँगना मायावी और असमर्थ जीव, अर्थात मनुष्य का काम है, कर्मठ और ऐश्वर्यवान पुरुष का नहीं। इस रूप में देखने पर लगता है कि मन की माया, कल्पना और अज्ञान ने सबको

भ्रमित कर रखा है।

इतना ही नहीं, परशुराम बनकर हैहयवंशी क्षत्रियों की इक्कीस बार सामूहिक हत्या की। जब एक बार ही वंश का नाश कर दिया गया, तब दोबारा क्षत्रिय कहाँ से आ गए कि दूसरी, तीसरी और इस प्रकार इक्कीसवीं बार तक उनकी हत्या करनी पड़ी? अनन्त विश्व-ब्रह्माण्ड का रचयिता ईश्वर दशरथ का पुत्र राम बनकर सीता से विवाह भी करता है और सीता का हरण हो जाने पर पेड़-पौधों से रो-रोकर उनका पता पूछता है। अथाह समुद्र में पत्थरों का पुल भी बनवाता है। ऐसे अनेक प्रश्न विचारणीय हैं। हम इक्कीसवीं शताब्दी की समर्थ चेतना हैं, सोलहवीं शताब्दी की बाल-चेतना नहीं।

जड़ और चेतन से निर्मित विश्व-सत्ता का वास्तविक बोध न होने के कारण पहले कुछ लोगों ने जगत्कर्ता ईश्वर की कल्पना खड़ी की और बाद में अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए अनेक अवतारों की कल्पना कर ली। छल करना, जोर-जबरदस्ती करना, यती-सती का चरित्र भ्रष्ट करना क्या ईश्वर का काम है? ये सब जाल-फरेब मनुष्य के काम हैं। इतना ही नहीं, ईश्वर के नाम पर मनुष्य का खून भी बहाया गया है। यह रक्त केवल मानवेतर जीवों का ही नहीं, बल्कि मूक और निर्दोष मनुष्यों का भी रहा है। धनबल, शरीरबल और विद्याबल आदि के कारण गरीब आदमी सदैव अत्याचारी का शिकार बनता रहा है। यह आज भी हमारी आँखों के सामने दिन-रात हो रहा है।

श्रीमद्भागवत के स्कन्ध 1, अध्याय 3, श्लोक 5 से 25 तक अवतारवाद की व्याख्या है। इसमें निम्न प्रकार से चर्चा की गई है: (1) सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार, ब्रह्मचर्य-पालन के लिए, (2) सूअर, पृथ्वी को रसातल से लाने के लिए, (3) नारद, उपदेश देने के लिए, (4) नर-नारायण, तप के लिए, (5) कपिल, सांख्यशास्त्र का उपदेश देने के लिए, (6) दत्तात्रेय, उपदेश देने के लिए, (7) यज्ञ, रुचि प्रजापति की पत्नी आकूति से उत्पन्न होकर स्वायम्भुव मन्वन्तर की रक्षा

के लिए, (8) ऋषभदेव, परमहंसों का आदर्श प्रस्तुत करने के लिए, (9) पृथु, पृथ्वी से औषधियों का दोहन करने के लिए, (10) मत्स्य, डूबी हुई पृथ्वी को निकालने के लिए। शंखासुर वेद चुराकर ले गया था, उसे मारकर मत्स्य ने वेद का उद्धार किया, (11) कच्छप, समुद्र-मन्थन में सहयोग के लिए, (12) धन्वन्तरि, समुद्र से अमृत का घड़ा लेकर प्रकट होने के लिए, (13) मोहिनी, देवताओं और दानवों का विवाद सुलझाने के लिए, (14) नृसिंह, हिरण्यकश्यपु को मारने के लिए, (15) वामन, बलि को ठगने के लिए, (16) परशुराम, क्षत्रियों की सामूहिक हत्या के लिए, (17) व्यास, वेदों का विभाजन करने के लिए, (18) श्रीराम, रावण को मारने के लिए, (19-20) बलराम-कृष्ण, पृथ्वी का भार उतारने के लिए, (21) बुद्ध, धर्मविरोधियों को मोहित करने के लिए और (22) कल्कि, अधर्म के विनाश के लिए। इन बाइस अवतारों के साथ अन्य शास्त्रों में हंस और हयग्रीव की भी चर्चा है। सनकादि को उत्तर देने के लिए हंस और मधु-कैटभ के वध के लिए हयग्रीव का उल्लेख मिलता है।

सबसे पहले अवतारवाद की भावना 'शतपथ ब्राह्मण' में मिलती है। एच. याकोबी ने Encyclopaedia of Religion and Ethics के खण्ड VII में 'Incarnation (Indian)' शीर्षक लेख में इसकी चर्चा की है। एम. मोनियर-विलियम्स ने Indian Wisdom, पृष्ठ 381 और एच. राय चौधरी ने Materials for the Study of the Early History of the Vaishnava Sect, पृष्ठ 96 में भी इसका उल्लेख किया है।

प्रारम्भ में विष्णु की अपेक्षा प्रजापति का विशेष महत्त्व था। 'शतपथ ब्राह्मण' के अनुसार प्रजापति ने ही मत्स्य (1/8/1/1), कूर्म अर्थात कछुआ (7/5/1/5) और वराह (14/1/2/11) का अवतार लिया। प्रजापति के वराह रूप की कथा का उल्लेख 'तैत्तिरीय संहिता' (7/1/5/1), 'तैत्तिरीय ब्राह्मण' (1/1/3/6), 'तैत्तिरीय आरण्यक' (10/1/8) और 'काठक संहिता' (8/1) में प्रारम्भिक रूप से मिलता है।

इसकी चर्चा डॉ. कामिल बुल्के ने 'रामकथा' के अनुच्छेद 140 में की है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मत्स्य, कूर्म और वराह के अवतार प्रारम्भ में प्रजापति से सम्बन्धित थे। बाद में विष्णु का महत्त्व बढ़ने पर इन तीनों का सम्बन्ध विष्णु से जोड़ दिया गया। महाभारत के नारायणी उपाख्यान (12/326/72 और 12/337) तथा हरिवंश पुराण (4/41) में वराह और विष्णु का सम्बन्ध स्वीकार कर लिया गया। आगे चलकर तीनों के नाम पर अलग-अलग महापुराण भी लिखे गए, जिनमें तीनों को विष्णु से सम्बद्ध कर दिया गया।

वामनावतार और नृसिंह अवतार प्रारम्भ से ही विष्णु से सम्बन्धित हैं। वामनावतार की चर्चा 'तैत्तिरीय संहिता' (2/2/3/1), 'शतपथ ब्राह्मण' (1/2/5/5), 'तैत्तिरीय ब्राह्मण' (1/7/17) और 'ऐतरेय ब्राह्मण' (6/3/7) में हुई है। नारायणी उपाख्यान (12/326/73) और हरिवंश पुराण (1/41) में भी इसका उल्लेख है। विष्णु पुराण (1/16) में नृसिंह की कथा का वर्णन भी मिलता है।

प्रारम्भ में परशुराम के अवतार से सम्बन्धित कथा की चर्चा नहीं मिलती। लेकिन नारायणी उपाख्यान (12/326/77), हरिवंश पुराण (1/41/112/120) और विष्णु पुराण (1/9/143) में उन्हें विष्णु का अवतार माना गया है।

इस प्रकार प्राचीन साहित्य में अवतारवाद की चर्चा होने के बावजूद विशेष पूजा की परम्परा विकसित नहीं हुई थी और न ही विष्णु की प्रधानता स्थापित हुई थी। कृष्णावतार के साथ अवतारवाद के विकास में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन प्रारम्भ हुआ। उसी समय से अवतारवाद भक्तिभाव से जुड़कर विकसित होते-होते आज के रूप तक पहुँचा। वासुदेव कृष्ण भागवत के इष्टदेव थे। प्रारम्भ में विष्णु के साथ उनका सम्बन्ध नहीं था। हेमचन्द्र राय चौधरी के अनुसार तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व में वासुदेव कृष्ण और विष्णु की अभिन्नता की भावना उत्पन्न हुई।

अवतारवाद की प्रक्रिया में बौद्ध धर्म भी जुड़ गया। बौद्ध धर्म और

भागवत सम्प्रदाय का भक्तिमार्ग, दोनों ब्राह्मण साहित्य के कर्मकाण्ड और यज्ञप्रधान धर्म की प्रतिक्रिया के रूप में उत्पन्न हुए और विकसित हुए। इससे धर्म के क्षेत्र में ब्राह्मणों का एकाधिकार कुछ शिथिल हुआ। बौद्ध धर्म के बढ़ते प्रचार-प्रसार को देखकर भागवत समर्थकों ने लोगों को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए भागवत के इष्टदेव वासुदेव कृष्ण को विष्णु-नारायण का अवतार मान लिया। 'तैत्तिरीय आरण्यक' (10/1/6) में वासुदेव और विष्णु की अभिन्नता की चर्चा सबसे पहले हुई है।

इससे अवतारवाद को भरपूर बल मिला। साथ ही विष्णु का महत्त्व भी बढ़ने लगा। परिणामस्वरूप अवतारवाद की धारणा धीरे-धीरे विष्णु-नारायण पर केन्द्रित होने लगी और वैदिक साहित्य के अन्य अवतारों के क्रिया-कलाप विष्णु पर आरोपित होते गए।

एक ओर अवतारवाद बढ़ रहा था, तो दूसरी ओर राम का आदर्श चरित्र जनमानस में प्रबल हो रहा था। रामायण के साथ-साथ राम का महत्त्व भी तेजी से बढ़ रहा था। राम की वीरता के वर्णन में अलौकिकता की मात्रा भी बढ़ने लगी। एक ओर रावण पाप और दुष्टता का प्रतीक बनकर जनमानस में आया, तो दूसरी ओर राम पुण्य और सदाचार के प्रतीक बने। इसका परिणाम यह हुआ कि कृष्ण की तरह राम भी विष्णु के अवतार की श्रेणी में आ गए। सम्भवतः पहली शताब्दी ईसा पूर्व से राम को विष्णु का अवतार माना जाने लगा। महाभारत के साथ-साथ वायु, ब्रह्माण्ड, विष्णु, मत्स्य और हरिवंश आदि पुराणों की अवतार-सूची में राम भी हैं।

अवतारवाद की पहली कल्पना 'शतपथ ब्राह्मण' में मिलती है, जिसे ईसा से लगभग एक हजार वर्ष पूर्व की रचना माना जाता है। शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि प्रजापति ने ही मछली, कछुए और सूअर का अवतार धारण किया। यह शुद्ध रूप से कल्पनाश्रित प्रतीत होता है।

वामन अवतार की कल्पना 'तैत्तिरीय संहिता' में है। इसे भी लगभग एक हजार वर्ष ईसा पूर्व की रचना माना जाता है। वैसे वामन अवतार की कल्पना ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के बाईसवें सूक्त के अन्तिम छह मन्त्रों (1.22.16-21) से भी उद्धृत मानी जाती है। इनमें यहाँ दो मन्त्र उद्धृत हैं:

इदं विष्णुर्वि चक्रमे त्रेधा नि दधे पदम्। समूळ्हमस्य पांसुरे॥

त्रीणि पदा वि चक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः। अतो धर्माणि धारयन्॥

(ऋग्वेद 1.22.17-18), टीका: रामगोविन्द त्रिवेदी।

विष्णु सूर्य के प्रतीक हैं। उनकी किरणें उनके पैर हैं। पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोक में किरणों, अर्थात प्रकाश का पड़ना ही उनके तीन पग पड़ना है। इसे प्रायः सभी वैदिक विद्वान जानते हैं। लेकिन बाद में इसी सूत्र को आधार बनाकर कथा गढ़ी गई और विष्णु के वामनावतार की कथा बन गई। कथा है कि विष्णु ने वामन बनकर राजा बलि को ठगा और तीन पग भूमि माँगकर उसका पूरा राज्य नाप लिया। प्रश्न उठता है कि ऐसे ठग को जनमानस ने ईश्वर कैसे मान लिया? पुराणों के अनुसार विष्णु को इन्द्र का छोटा भाई कहा गया है, जिसने अपने बड़े भाई इन्द्र की गद्दी पुनः स्थापित करने के लिए बलि को धोखा दिया।

मत्स्य, कच्छप, वराह, नृसिंह, वामन और परशुराम आदि जो भी अवतारों की श्रेणी में आए, उनमें से कोई पूजनीय नहीं हो सका। अवतारों की इस परम्परा के अन्तिम छोर पर आए राम और कृष्ण ही पूजनीय बने।

वस्तुतः श्रमणों, अर्थात बौद्ध-जैन परम्परा के 'उत्तारवाद' की प्रतिक्रिया में अवतारवाद की कल्पना हुई। महावीर और बुद्धदेव महापुरुष थे। 'उत्तार' का अर्थ सामान्य जीव का क्रमशः ऊपर उठना है, जबकि 'अवतार' का अर्थ महान सत्ता का ऊपर से नीचे उतरना है। अवतारवाद की परम्परा के अनुसार परमात्मा उतरकर साधारण मनुष्य

बन जाता है। पहले कृष्ण को अवतार माना गया, जिसका पूर्ण विकास गीता के कृष्णावतार में हुआ। तब तक राम अवतार की श्रेणी में नहीं आए थे। उन्हें केवल धनुर्धारी वीर माना जाता था। गीताकार ने कृष्ण के मुख से राम के सम्बन्ध में कहलवाया है, 'रामः शस्त्रभृतामहम्।'

ईसा से सौ वर्ष पूर्व तक चारों भाइयों, राम आदि को विष्णु का अंशावतार ही माना जाता था। राम को पूर्ण परब्रह्म मानने का विचार ईसा के बाद अध्यात्म रामायण से प्रारम्भ हुआ। इस प्रकार देखने पर लगता है कि अवतारवाद के लिए वेदों में कोई स्थान नहीं था, बल्कि वह बाद में विकसित हुआ।

प्रश्न उठता है कि अवतारवाद क्या है?

विश्व अनन्त देश और काल में व्याप्त है। विश्व के मुख्य दो घटक हैं, जड़ और चेतन। दोनों में अपने-अपने गुण-धर्म निहित हैं, जिनसे जगत की व्यवस्था अनादिकाल से अबाध गति से चल रही है। इससे अलग किसी दूसरे ईश्वर की कल्पना तथ्य से अलग होना है।

कहा गया है कि शंखासुर नामक राक्षस था। वह ब्रह्मा के पास पहुँचकर वेद चुरा ले गया और समुद्र में छिपाकर रख दिया। उसे पुनः प्राप्त करने के लिए विष्णु ने मत्स्यावतार धारण किया और समुद्र में शंखासुर को मारकर वेद वापस ले आए। प्रश्न उठता है कि क्या हत्या करना ईश्वर का काम है? जो सर्वज्ञ और दयालु है, उसका आचरण ऐसा कैसे हो सकता है? वह तो अपनी सत्प्रेरणा से किसी को बदल सकता है।

हिरण्याक्ष के सम्बन्ध में भी ऐसी ही कथा है। हिरण्याक्ष पृथ्वी को चुराकर टट्टी में छिपा देता है। विष्णु सूअर का अवतार लेकर अपनी थूथन से पृथ्वी को टट्टी से निकालते हैं, हिरण्याक्ष को मारते हैं और पृथ्वी को ऊपर ले आते हैं। इससे पृथ्वी का उद्धार होता है। प्रश्न उठता है कि जब पृथ्वी ही चोरी हो गई, तो उसे रखा कहाँ गया? पृथ्वी अपने गुरुत्वाकर्षण से स्वयं धारित है।

ऐसी ही कथा हिरण्यकश्यपु और प्रह्लाद की है। प्रह्लाद विष्णु का

भक्त था, जो हिरण्यकश्यपु को पसन्द नहीं था। इसलिए उसने प्रह्लाद को बाँध दिया। प्रह्लाद का दुःख देखकर ईश्वर, अर्थात विष्णु, नर और सिंह का मिश्रित रूप धारण कर खम्भा फाड़कर निकले और हिरण्यकश्यपु को मार दिया। प्रश्न उठता है कि एक प्रह्लाद के लिए ईश्वर खम्भा फाड़कर निकल आए, लेकिन चंगेज खाँ, नादिरशाह, मिलावटखोर, जमाखोर, घूसखोर और शोषकों के लिए उनकी नींद क्यों नहीं टूटती?

वामन रूप बनकर बलि से भीख माँगी गई। भीख माँगना और छल करना मायावी मनुष्य का काम है, ईश्वर का नहीं।

जब परशुराम ने हैहय क्षत्रिय वंश की सामूहिक हत्या कर दी, तो फिर दूसरी, तीसरी और यहाँ तक कि इक्कीसवीं बार किसकी हत्या की? यदि ऐसे-ऐसे हत्यारे ईश्वर हों तो अपराधी किसे कहेंगे?

अनन्त विश्व में व्याप्त जगत्-स्रष्टा ईश्वर राम बनकर दशरथ का पुत्र होगा और सीता से विवाह करने आएगा। इतना ही नहीं, सीता का हरण हो जाने पर रो-रोकर पेड़-पौधों से उनका पता पूछेगा। कृष्ण गाय चराने वृन्दावन आएँगे और स्त्रियों के साथ रास करेंगे। क्या वेद ईश्वर के यही लक्षण बताते हैं?

विश्व में मुख्य दो तत्त्व हैं, जड़ और चेतन, जिन्हें प्राचीन काल से सांख्य दर्शन प्रकृति और पुरुष कहता आया है। जड़ प्रकृति में अनेक तत्त्व हैं और वे सभी अनादि-अनन्त हैं। उनमें अपने-अपने स्वभावसिद्ध गुण-धर्म और क्रियाएँ निहित हैं, वही उनकी सम्पत्ति हैं। इन्हीं से सृष्टि निरन्तर विद्यमान रहती है। यदि ऐसा नहीं है तो पूरब या पश्चिम की ओर बहने वाली हवा को क्या कोई पूरब या पश्चिम जाकर धक्का देता है, या वह अपने दबाव के नियम के अनुसार स्वयं चलती है? इसी तरह वर्षा भी होती है। पानी बरसने के प्राकृतिक नियम अनुकूल होने पर वर्षा होती है। प्रकृति जड़ है। वह यह नहीं समझती कि सूखा, कम वर्षा अथवा अधिक वर्षा किसी को नुकसान पहुँचाएगी या लाभ।

एक ओर 1987 की वर्षा ने मिथिलांचल को डुबो दिया, तो दूसरी

ओर राजस्थान, गुजरात और उड़ीसा आदि राज्यों में सूखा पड़ गया। क्या ऐसा काम सर्वज्ञ, दयालु और सर्वशक्तिमान ईश्वर का हो सकता है?

क्या झरनों से पानी निकलना और नदियों का बहना भी ईश्वर की प्रेरणा से होता है? चाँद, सूरज और तारे उन्हीं, अर्थात ईश्वर की कृपा से चमकते हैं। फूल वही खिलाते हैं। ऐसी विचित्र अन्धविश्वासी कल्पनाएँ खड़ी करके चालबाज लोग अज्ञानी मनुष्यों को आदिकाल से लूटते आए हैं।

जो मनुष्य ज्ञान अर्जित कर पवित्र आचरण के द्वारा अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त कर लेता है, वही इस जीवन को सार्थक बनाकर मुक्ति का अधिकारी होता है। उसके लिए अलग से किसी कल्पित ईश्वर की आवश्यकता नहीं है।

बीजक में कबीर कहते हैं:

"ज्ञान हीन कर्तार्कें भरमें, माये जग भरमाया।"

छल करना, बलपूर्वक किसी का धन और इज्जत लूटना, ये सब संसारी मनुष्य के काम हैं, ईश्वर के नहीं। यती, सती-पतिव्रता तथा सत्य बोलने और सत्य के मार्ग पर चलने वालों को पथभ्रष्ट करना, पतित बनाना, क्या ये सब विवेकवान मनुष्य के काम हैं?

अवतार के सम्बन्ध में कबीर ने कहा है:

"दश अवतार ईश्वरी माया, कर्ता कै जिन पूजा।

कहै कबीर सुनो हो सन्तो, उपजै खपै सो दूजा।"

अर्थात दस या चौबीस अवतारों की कल्पना ईश्वरीय माया है। उन कल्पित अवतारों की पूजा करना सत्यज्ञान से रहित मनुष्य का काम है। जैसे अवतार, वैसे ही अवतारी अर्थात ईश्वर, दोनों ही मनुष्य के मन की कल्पनाएँ हैं। क्योंकि जगत के कर्ता का जन्म और मृत्यु कैसे हो सकती है?

चौबीस अवतारों में श्रीराम, कृष्ण और महात्मा बुद्ध आदि

ऐतिहासिक महापुरुष हैं। शेष सभी काल्पनिक हैं। वैसे 'अवतार' का अर्थ उतरना और जन्म लेना है, जो सामान्यतः कर्मशील जीव के साथ होता है।

अवतारवाद मनुष्य में हीनभावना को जन्म देता है। यदि ऐसा नहीं है तो देश और धर्म पर संकट आने पर अवतारी उसका निवारण क्यों नहीं करता? जब विधर्मी ने सोमनाथ मन्दिर लूट लिया तब पुजारी मुँह क्यों देखते रह गए? उन्होंने ईश्वर को पुकारकर उसे क्यों नहीं बचाया?

जब तक मनुष्य यह नहीं समझेगा कि धरती पर मनुष्य ही सबसे अधिक शक्तिशाली है, तब तक वह उन्नति नहीं कर सकता। ईश्वर, देवी-देवता और अवतार की कल्पना मनुष्य के उसी अन्धकारमय मस्तिष्क में जन्म लेती है, जहाँ वह अपनी दुर्बलता को किसी कल्पित सहारे से ढककर राहत की साँस लेना चाहता है।

वस्तुतः आत्मा जब महात्मा के रूप में विकसित होती है, तब वह स्वयं परमात्मा बन जाती है। काम, क्रोध, राग, द्वेष आदि दुर्गुणों पर जब मनुष्य विजय प्राप्त कर लेता है, तब वह अपने ही भीतर ईश्वर, परमात्मा, दैव और ब्रह्म का रूप देखने लगता है।

श्रीमद्भागवतः

दरिद्रो यस्त्वसन्तुष्टः कृपणो योऽजितेन्द्रियः।

गुणेष्वसक्तधीरीशो गुणसंगे विपर्ययः ॥ 11/19/44 ॥

जिसके चित्त में असन्तोष है वही दरिद्र है। जो जितेन्द्रिय नहीं है वही कृपण है। समर्थ, स्वतंत्र और ईश्वर वही है जिसकी चित्त-वृत्ति विषय-भोग में आसक्त नहीं है। इसके विपरीत जो विषयों में आसक्त है, वही पूर्णतः पापी है। ❑

संस्कार और संस्कार गीत

संस्कार एक अवधारणा है। हमारे बीच संस्कारों का प्रयोग विभिन्न रूपों में और विभिन्न स्थानों पर होता है। उनका प्रभाव भी मन्द और तीव्र, दोनों रूपों में दिखाई देता है। लेकिन विचारणीय प्रश्न है कि वह मन्द क्यों होता है और तीव्र क्यों? फिलहाल हम इस प्रश्न के उत्तर की ओर न जाकर उसके शास्त्रीय प्रयोग की ओर बढ़ते हैं। गर्भजनित और वातावरणजन्य कुछ अशुद्धियों को दूर करने के लिए संस्कारों की कल्पना की गई है। कहा गया है कि इससे शरीर और मन परिष्कृत होते हैं।

शालीनता और शिष्टता मनुष्यता की परम सिद्धि है और उसे प्राप्त करने का साधन संस्कार-कर्म है। दर्शनशास्त्र के अनुसार भोग्य पदार्थों के अनुभव से मन पर पड़ने वाली छाप ही संस्कार है। मनुष्य के अव्यक्त मन पर अनुभव की जो छाप पड़ती है और समय आने पर प्रकट होती है, वही वासना है और वही जन्मान्तर का संस्कार कहलाती है। धर्मशास्त्रियों ने संस्कार को शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक गुण-दोषों के परिष्कार की प्रक्रिया के रूप में ग्रहण किया है।

आश्वलायन ने अपने गृहसूत्र में ग्यारह प्रकार के संस्कारों का वर्णन किया है, जबकि याज्ञवल्क्य ने बारह प्रकार के संस्कार माने हैं। गौतम ने विभिन्न देवयज्ञों को भी संस्कारों में परिगणित करते हुए उनकी संख्या अड़तालीस तक पहुँचाई है। भारत सरकार की 1901 ई. की जनगणना रिपोर्ट के अनुसार उस समय हिन्दुओं में बारह संस्कार प्रचलित थे। मिथिला में सोलह प्रकार के संस्कारों का विधान मान्य है।

यथा, गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूड़ाकर्म, कर्णवेध, उपनयन, वेदारम्भ, समावर्तन, विवाह, वानप्रस्थ, संन्यास और अन्त्येष्टि। अब मुख्यतः पाँच प्रकार के संस्कार, जन्म, मुण्डन, उपनयन, विवाह और मृत्यु प्रचलित हैं। लेकिन ये भी सभी जातियों में समान रूप से प्रचलित नहीं हैं। जैसे उपनयन केवल समाज की कुछ अगड़ी जातियों में है। मुण्डन का स्वरूप भी एक जैसा नहीं है। इसलिए सभी को ध्यान में रखकर देखने पर केवल तीन संस्कार, जन्म, विवाह और मृत्यु ही व्यापक रूप में दिखाई देते हैं।

संस्कारों की कल्पना तथा उनके चयन या नामकरण के पीछे सामाजिक कारण भी प्रमुख रहे हैं। स्पष्ट है कि संस्कारों का विधान जीवन-पद्धति को एक विशेष ढंग से नियंत्रित और आदर्शोन्मुख बनाने के लिए किया गया। यह केवल शुद्धता का प्रश्न नहीं, बल्कि सुनियोजित जीवन-व्यवस्था की आवश्यकता की ओर भी संकेत करता है। कहने का आशय यह है कि आर्य-अनार्य के सम्मिश्रण से उत्पन्न सामाजिक स्थिति में संस्कारों के माध्यम से अपनी अस्मिता सुरक्षित रखने की ब्राह्मणवादी चिन्तन-प्रक्रिया का परिणाम भी संस्कार हैं। मध्यकाल में संस्कारों के पालन पर अधिक बल दिया गया। वैसे दोषों का निवारण और गुणों को ग्रहण करना कोई बुरी बात नहीं है। इतिहास साक्षी है कि भौतिक परिस्थितियों के प्रभाव के कारण समाज में कभी बेटी का तो कभी बेटे का महत्त्व बढ़ता रहा है।

आज जिसे मैथिल संस्कृति कहा जा रहा है, क्या वह वस्तुतः सम्पूर्ण मिथिला की संस्कृति है? इसके लिए मिथिला के इतिहास की ओर देखना होगा। मिथिला की धरती हिमालय से आई मिट्टी और बालू से बनी है। नदियों से भरे इस भूभाग में किरात और कौल्ह रहते थे। आर्यीकरण के अभियान में बाहर से आए कुछ लोगों ने यहाँ आकर द्विज के रूप में इस प्रदेश पर सत्ता स्थापित की। क्षत्रियों ने राजसत्ता पर अधिकार किया, समाज-सत्ता ब्राह्मणों के हाथ में आई और वैष्णव लोग

आर्थिक सत्ता के स्वामी बने। मूल निवासी, अर्थात आदिवासी, अन्त्यज हो गए। बाहर से आए लोगों की संख्या कम थी, इसलिए कृषि-कार्य तथा अन्य आवश्यकताओं के कारण प्रतिलोम विवाह ने जोर पकड़ा। इसकी चर्चा मनुस्मृति और मिथिला के इतिहास में विस्तार से मिलती है। द्विजों की संख्या कम होने के कारण उन्होंने यहाँ के आदिवासी देवी-देवताओं, पर्व-त्योहारों और नियम-विधानों को भी अपनाया, जिससे ब्राह्मणीकरण की प्रक्रिया हुई। समाज की सत्ता ब्राह्मणों के हाथ में थी, इसलिए उनकी जीवन-शैली ही संस्कृति के रूप में प्रतिष्ठित हुई। बहुसंख्यक मूल निवासियों पर एक नई संस्कृति आरोपित की गई। आज की तरह प्रचार-प्रसार के साधन उस समय नहीं थे, लेकिन जो भी साधन उपलब्ध थे, वे उन्हीं लोगों के बीच केन्द्रित थे। लिखने-पढ़ने की सुविधा और सामर्थ्य होने के कारण द्विजों की संस्कृति धीरे-धीरे सम्पूर्ण मिथिला की संस्कृति के रूप में स्थापित होती गई। लेकिन मूल निवासियों की जीवन-शैली और रीति-नीति का पूर्ण विलय न तो सम्भव था और न हुआ। आज भी वे दूब की तरह मिट्टी को पकड़े हुए हैं। उनकी संस्कृति ही लोक-संस्कृति कहलाती है।

मुण्डन और उपनयन अब भी काम्य संस्कारों की श्रेणी में आते जा रहे हैं। मिथिला में आज भी अनेक जातियाँ निवास करती हैं। कुछ जातियों को छोड़कर बहुसंख्यक जातियों में उपनयन की प्रथा नहीं है, इसलिए उपनयन को सम्पूर्ण मिथिला का संस्कार कैसे माना जाए? हाँ, इसे खण्डित संस्कार कहा जा सकता है। मुण्डन की स्थिति भी ऐसी ही है। मुण्डन की कोई एक समान पद्धति नहीं है। कोई देवस्थान जाकर मुण्डन कराता है तो कोई गंगा के किनारे। कोई गाँव में कबुला-पाती देकर कराता है तो कोई बिना गीत-संगीत और पूजा-पाठ के। कोई समाज में खीर-टिकड़ी बाँटकर करता है तो कोई भोज देकर। इसलिए सबको मिलाकर देखने पर प्रश्न उठता है कि मुण्डन का कौन-सा रूप मान्य माना जाए? इसी तरह विवाह के सम्बन्ध में भी प्रश्न उठते हैं। कुमार वर और कुमारी कन्या का विवाह प्रचलित है। कुछ जातियों में

'दोती' वर और कुमारी कन्या का विवाह नहीं होता, जबकि बहुसंख्यक जातियों में दोती वर-कन्या का विवाह भी होता है। दूसरी बार विवाह करने वाली कन्या के साथ कुमार वर का विवाह भी होता है। इसी प्रकार मृत्यु संस्कार में भी एकरूपता नहीं है। मृत्यु को शोक मानकर गीत-संगीत नहीं होता। लेकिन प्रश्न उठता है कि मृत्यु केवल शोक का ही संस्कार क्यों है? हाँ, असामयिक मृत्यु को शोक की श्रेणी में रखा जा सकता है, लेकिन उचित आयु बीत जाने के बाद होने वाली मृत्यु को शोक क्यों माना जाए? प्रकृति में भी हम देखते हैं कि अपनी पूर्ण आयु प्राप्त कर जीव स्वतः नष्ट हो जाते हैं। मनुष्य भी तो उसी प्रकृति का अंग है। लेकिन अनेक प्रश्न उठने के बावजूद समाज विवाह और मृत्यु को व्यावहारिक संस्कार के रूप में अपनाए हुए है। छिटपुट रूप में जो कुछ भी होता हो, समुद्र रूपी समाज अन्ततः सब कुछ अपने भीतर समेट लेता है।

व्यक्तिगत जीवन की समस्याओं से ऊपर उठकर सार्वजनिक जीवन जीने के अभ्यास का महत्त्व हमेशा रहा है और आज भी है। संन्यास का मूल भाव यही है। ब्रह्मचर्य जीवन ज्ञान अर्जित करने का काल है। गृहस्थाश्रम व्यावहारिक जीवन का चरण है, जिसमें उपार्जन के माध्यम से जीवन-निर्वाह होता है। इससे नए परिवार का सृजन होता है और समाज आगे बढ़ता तथा समृद्ध होता है। अन्तिम अवस्था, अर्थात संन्यास तक पहुँचते-पहुँचते ज्ञान और कर्म से पूर्ण मनुष्य यदि अज्ञानी और अबोध मनुष्यों की सेवा में लग जाए तो यह अनुचित नहीं है। वास्तव में इसकी आवश्यकता भी है।

संस्कार गीत का अर्थ है विभिन्न संस्कारों के अवसर पर गाए जाने वाले गीत। ये लोक-प्रचलित गीत हैं, इसलिए इनमें लोकगीत की आत्मा बसती है। लोकगीतों की मनोहर फुलवारी से यदि संस्कार गीतों को हटा दिया जाए तो वह निष्प्राण हो जाएगी, क्योंकि लोकगीतों की लगभग सभी प्रमुख विशेषताएँ संस्कार गीतों में उपलब्ध हैं। मृत्यु संस्कार को छोड़कर अन्य सभी संस्कार आनन्दोत्सव के वातावरण में सम्पन्न होते

हैं। उल्लासपूर्ण वातावरण में नारी-कण्ठ से निकलने वाली स्वर-लहरियाँ देह में थिरकन, हृदय में झंकार और मस्तिष्क में चंचलता उत्पन्न कर देती हैं। गीत गाना मिथिला के स्त्री-पुरुषों का सहज गुण रहा है। जैसे मुण्डन, उपनयन, विवाह आदि के समय स्त्रियाँ समवेत स्वर में गीत गाती हैं। यह मिथिला की धरोहर है। इसी प्रकार पुरुष भी पर्वों और धार्मिक अवसरों पर मिलकर गीत गाते हैं।

संस्कार गीत लोकगीत का अंग है। कहा जाता है कि लोकगीत का कोई एक रचनाकार नहीं होता, वह सार्वजनिक रचना होती है। उसका निवास लोककण्ठ में होता है। एक कण्ठ से दूसरे कण्ठ तक पहुँचते-पहुँचते गीत का स्वरूप बदल जाता है। इतना ही नहीं, गीत का 'भास' भी बदलता जाता है। एक ही गीत को भास बदल-बदलकर अनेक रूपों में गाया जाता है। इसलिए संस्कार गीतों में एकरूपता का अभाव मिलता है। इस स्वाभाविक स्थिति का एक दूसरा परिणाम भनिता के बेलगाम प्रयोग के रूप में भी दिखाई देता है। गीत गाने वाली स्त्रियाँ अपनी समझ से किसी गीत में किसी भी रचनाकार का नाम भनिता के रूप में जोड़ देती हैं। विद्यापति की रचना उमापति की बन जाती है तो कभी उमापति की रचना चंदा झा या मनबोध की। इतना ही नहीं, मैथिली क्षेत्र से बाहर के रचनाकार, जैसे तुलसी, सूरदास और मीरा भी मिथिला की माताओं-बहनों के कण्ठ में आकर मिथिला और मैथिली के ही गीतकार बन जाते हैं। यह उचित भी है और अनुचित भी। उचित इसलिए कि उनकी लोकप्रियता 'विनय पत्रिका', 'रामायण' और 'सूरसागर' के माध्यम से इतनी व्यापक हो गई कि वे अपने बन गए। जहाँ तक शब्दों के टूटने-बिगड़ने का प्रश्न है, वह ज्ञान और अज्ञान के बीच की बात है। भाषा का जन्म आमजन के बीच होता है। कुछ नए शब्द भी जन्म लेते हैं और शुद्ध शब्द टूटकर नए रूप ग्रहण कर लेते हैं। इसलिए संस्कार गीतों में यह जानना कठिन हो जाता है कि कौन-सा गीत किसकी रचना है। स्पष्ट है कि संस्कार गीत मैथिल महिलाओं की परिष्कृत सांस्कृतिक चेतना के परिचायक हैं।

मिथिला में संस्कार गीत अनौपचारिक शिक्षा का भी माध्यम रहे हैं। मैथिल समाज में स्त्रियों के लिए औपचारिक शिक्षा वर्जित थी। केवल स्त्रियाँ ही नहीं, मिट्टी से जुड़े सामान्य लोगों के लिए भी वह बहुत हद तक वर्जित थी। यह तक कहा जाता था कि वेद या गीता पढ़ने से वे पागल हो जाएँगे। स्त्रियों में विदुषियाँ भी होती थीं। संस्कार गीतों का सम्बन्ध संस्कृति और साहित्य से तो है ही, समाज से भी है। संस्कृति, साहित्य और समाज के परस्पर अवलम्बन को संस्कार गीत जितनी स्पष्टता से प्रकट करते हैं, उतना इस प्रकार का कोई दूसरा घटक नहीं करता। संस्कार गीतों के संकलन और प्रकाशन से मौखिक परम्परा का साहित्य सुरक्षित होता है और वही साहित्य अध्ययन तथा विश्लेषण का आधार प्रस्तुत करता है।

मिथिला में संस्कार गीतों का श्रीगणेश गोसाउनि के गीत से होता है। इससे मैथिल समाज की धार्मिक भावना का परिचय मिलता है। लेकिन प्रश्न है कि संस्कार के अवसर पर यह धार्मिक भावना मुख्यतः गोसाउनि के गीत में ही क्यों प्रकट होती है? स्पष्ट है कि यहाँ गोसाउनि, गोसाँई से अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। भगवान के गीत भी मिथिला में गाए जाते हैं, लेकिन संस्कार-कर्म के अवसर पर जो प्रधानता भगवती के गीतों को प्राप्त है, वह भगवान के गीतों को नहीं। अब प्रश्न उठता है कि मिथिला में देवी-पूजा की प्रधानता क्यों है? सभी जानते हैं कि देवी-पूजा का सम्बन्ध तन्त्र-साधना से है। कुछ इतिहासकारों का मत है कि तन्त्र-साधना असंस्कृत जनजातीय समाज से आई, जिसे कालान्तर में ब्राह्मणवादी लोगों ने अपना लिया। बहुत समय तक तन्त्र-साधना को अवैदिक कार्य माना जाता रहा। धीरे-धीरे उसे अपनाते हुए सनातन धर्म में जोड़ लिया गया। वैदिक धर्मावलम्बी भी तन्त्र-साधना को अपनाकर देवी-पूजा की ओर आकृष्ट हुए। इसके अतिरिक्त मिथिला के समाज में शैव धर्म की प्रधानता थी या शाक्त धर्म की, इस पर विद्वत्-मण्डली में बहुत दिनों तक विवाद चलता रहा। अन्ततः यह विवाद इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि मिथिला के लोग पंचदेवोपासक हैं। यह मान्यता प्राचीन काल

के समन्वयवादी धार्मिक जीवन की देन है और संस्कार गीतों के मध्यकालीन चरित्र को भी उजागर करती है।

संस्कारों में गाए जाने वाले मैथिली गीतों का अपना इतिहास है। लोचन की 'रागतरंगिणी' में मैथिल गीतों का जो इतिहास लिखा गया है, उसके अनुसार इनका जन्म तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी में हुआ। शिव सिंह और विद्यापति समकालीन थे। उनके पितामह सुमति मैथिली गीत-परम्परा के प्रारम्भकर्ता थे। इस प्रकार मिथिला की देशी गीत-परम्परा की स्थापना हुई। ऐतिहासिक आधार पर यही माना जाता है, लेकिन गीत गाने की प्रवृत्ति मनुष्य के विकास के साथ जुड़ी हुई है। इस आधार पर इसकी परम्परा को और भी पुराना कहा जा सकता है।

गीत गाने के ढंग को सामान्यतः राग कहा जाता है, लेकिन मिथिला में उसे 'भास' कहा जाता है। मिथिला के भास की अपनी विशिष्टता है। संस्कार गीत इस भास के भण्डार हैं। हाँ, कुछ त्रुटिपूर्ण व्यवहार भी देखने को मिलते हैं। कम जानकारी के कारण एक ही गीत, जैसे समदाउन, खुशी के अवसर पर भी गाया जाता है और शोक के समय भी, जबकि दोनों अवसरों की विषय-वस्तु अलग-अलग होती है। इसी प्रकार बेटे के विवाह में कुमार गीत और बेटी के विवाह में कुमारी गीत के बीच भी अन्तर होता है। जन्म के अवसर पर खेलौना और सोहर में भी अन्तर है। ❑

वर्चस्ववादी संस्कृति बनाम हाशिये के समाज का संघर्ष

यह प्रसन्नता की बात है कि उपेक्षित समाज के कल्याण की दिशा में संघर्ष के लिए 'अंतिका' ने लाइव विमर्श शुरू किया है। इसके लिए गौड़ीजी को धन्यवाद और शुभकामनाएँ।

हाशिये पर खड़े अथवा उपेक्षित समाज पर दुनिया भर की वर्चस्ववादी संस्कृति जोर-जबरदस्ती करती रही है और युगों से करती आ रही है। इतिहास इसका प्रमाण है। अब तक धरती पर चौदह हजार से अधिक लड़ाइयाँ हो चुकी हैं।

ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी में सामन्तवाद अथवा ब्राह्मणवाद का उदय हुआ। उससे पहले जंगली अवस्था में शोषण का जो रूप था, उससे भिन्न रूप में सामन्तवादी व्यवस्था विकसित हुई।

वैदिक संस्कृति, भाषा और साहित्य का विकास जनजीवन से जुड़ा हुआ था। वेदों की रचना का समय अलग-अलग विद्वानों ने अलग-अलग आधारों पर निर्धारित किया है, लेकिन मोटे तौर पर उसे पाँच हजार वर्ष पूर्व का माना जाता है। वेदों में एक लाख सूत्र हैं, जो कर्म, ज्ञान और उपासना से सम्बन्धित हैं। लेकिन अभी उस विस्तार में नहीं जाऊँगा। एक तो वैसे ही कम समय में अपनी बात रखनी है। केवल दस मिनट में कितने विचारों को समेटा जा सकता है?

कार्यक्रम के शीर्षक में 'पचपनिया' के संघर्ष की चर्चा की गई है, लेकिन बेहतर होता कि अगड़े और पिछड़े समाज के बीच की सीमा स्पष्ट करते हुए संघर्ष की चर्चा होती। मंच का संचालन मैथिली भाषा में

हो रहा है, यह अपने-आप में मैथिली के लिए एक कदम आगे बढ़ना है। सबसे पहले हमें 'भाषा' और 'साहित्य' के अन्तर पर ध्यान देना चाहिए। बहुत से लोग भाषा को साहित्य और साहित्य को भाषा मान लेते हैं। लेकिन ऐसा नहीं है। साहित्य समाज का दर्पण है और भाषा एक-दूसरे के बीच संवाद स्थापित करने का माध्यम है।

भाषा के विकासक्रम में जनभाषा वैदिक रूप में सामने आई। वही भाषा परिमार्जित होकर लौकिक संस्कृत बनी। लौकिक संस्कृत समाज के अल्पसंख्यक वर्ग के बीच विकसित हुई, जबकि बहुसंख्यक जनसमुदाय उससे दूर रहा। जीवन में भाषा की आवश्यकता तो थी ही, इसलिए संस्कृत के विरुद्ध जनमानस में विद्रोह हुआ। लौकिक संस्कृत पीछे हटी और जनसमुदाय के बीच पाली भाषा स्थापित हुई। यहाँ एक बात और कह दूँ। आज जो भारत हम देखते हैं, पहले उसका यही स्वरूप नहीं था। इसलिए अलग-अलग क्षेत्रों में भाषाएँ भी अलग-अलग रूपों में विकसित होती रही हैं। 1947 के भारत और उससे पहले के भारत में अन्तर था। क्षेत्र के अनुसार भिन्न-भिन्न भाषाएँ और भिन्न-भिन्न संस्कृतियाँ प्रचलित थीं।

पाली भाषा जब परिमार्जित होते-होते आगे बढ़ी और जनमानस से दूर होने लगी, तब उसके भीतर भी विद्रोह हुआ और अपभ्रंश स्थापित हुआ। बाद में अनेक दूसरी भाषाएँ विकसित और परिवर्तित होती गईं। लेकिन अभी भाषा की चर्चा यहीं तक। मध्ययुग में, जिसे हम 'भक्ति युग' अथवा 'भक्ति काल' कहते हैं, भाषा का जबरदस्त आन्दोलन हुआ। तुलसी के माध्यम से अवधी, सूर के माध्यम से ब्रजभाषा और कबीर के माध्यम से मैथिली सहित पूर्वांचल की अन्य भाषाएँ सामने आईं। लेकिन फिलहाल इतना ही कि साहित्य समाज को आगे का रास्ता दिखाता भी है, उसके साथ चलता भी है और कठिन समय में पीछे से धक्का देकर आगे बढ़ाता भी है। इसलिए साहित्य के क्षेत्र में मूल प्रश्न यह है कि आज मिथिला-समाज का साहित्य कैसा है? वह समाज के साथ चल रहा है या समाज को पीछे छोड़कर आगे बढ़ रहा है?

केवल मिथिला ही नहीं, पूरा देश हजारों वर्षों की गुलामी की जंजीरों में बँधा रहा, जो 1947 ई. में आंशिक रूप से टूटी।

वैसे हम सभी जानते हैं कि सतयुग से ही देव-दानव के संघर्ष की चर्चा होती आ रही है। त्रेता युग में राम-रावण का युद्ध हुआ। शक्तिशाली समाज ने निर्बलों की कैसी स्थिति बनाई, इसकी अनेक कथाएँ और किस्से मिलते हैं। द्वापर के कौरव-पाण्डव युद्ध से भी हम परिचित हैं। आज समाज में जो समस्याएँ दिखाई देती हैं, ऐसी समस्याओं की चर्चा पुराणों में भी है। फिलहाल इन्हें छोड़िए। आज यदि हम एकलव्य और द्रोणाचार्य में ही उलझे रहेंगे तो उससे काम नहीं चलेगा। हम सभी जानते हैं कि प्रत्येक मनुष्य को एक ही जीवन मिलता है। वह जीवन कैसा है और कैसे जीया जा रहा है, इस पर ध्यान देना होगा।

मूल प्रश्न यह है कि वैदिक चिन्तन और आज के मनुष्य के जीवन के बीच सम्बन्ध कैसे बना रहे। साहित्य में जो वैदिक संस्कृति दिखाई देती है, वह उस समय के समाज का जीवन था। आज हम इक्कीसवीं शताब्दी में हैं, जिसे वैज्ञानिक शताब्दी माना जाता है। वैज्ञानिक युग का अर्थ है व्यावहारिक जीवन। समाज के भीतर प्रतिदिन किसी-न-किसी प्रकार के विग्रह की जड़ रोपी जा रही है। ऐसी स्थिति में व्यावहारिक जीवन प्राप्त करना बच्चों का खेल नहीं है। समाज में ऐसा वातावरण बनाया जा रहा है कि मैथिली भाषा मर जाएगी। ऐसा विचार पैदा कैसे हुआ? जो मैथिली अंतरराष्ट्रीय भाषा है, वह मर कैसे जाएगी? ऐसे संस्कार उन परिवारों से आते हैं जो मिथिला और मैथिली को चारागाह बनाकर चरते हैं और समाज की हवा को दूषित करते हैं।

1912 ई. से पहले बिहार और बंगाल एक ही राज्य का हिस्सा था। विद्यापति छह-सात सौ वर्ष पहले हुए। वे सबके थे या केवल हमारे थे और आपके नहीं? अपनी कमजोरी के कारण मैथिलीभाषी यह कहना ही नहीं चाहते कि बंगाली भाषा के व्यवहार में कैसी सामाजिकता

दिखाई देती है और मैथिली में कैसी। बंगाली अपनी भाषा को इतनी निष्ठा से निभाते हैं कि बिल्कुल अपरिचित स्थान पर भी यदि उन्हें मिट्टी की तनिक-सी सुगन्ध मिल जाए तो वे तुरन्त अपनी मातृभाषा को सामने रखकर बंगला में बातचीत करने लगते हैं। लेकिन कितने मैथिल ऐसे हैं जो अपनी भाषा और समाज के प्रति वैसी निष्ठा दिखाना चाहते हैं? खैर, जो है सो है।

वैदिक संस्कृति को मिथिला की संस्कृति कहा जाता है। भाषिक रूप में वह आज भी फैली हुई है, लेकिन व्यावहारिक जीवन में उसकी स्थिति क्या है, इसे ईमानदार दृष्टि से देखना होगा। शब्दों में हम चाहे जितना आगे बढ़ जाएँ, केवल उससे जीवन और समाज आगे नहीं बढ़ेंगे। आज का समाज दिशाहीन होता जा रहा है। उसे दिशा दिखाने के लिए साहित्य-रचना की आवश्यकता है। वहाँ हमें अपने साहित्य की भी समीक्षा करनी होगी कि हम आखिर किसके रचनाकार हैं। मैथिली में एक कहावत है, 'घुरि फिरि बभना, तोरे अंगना।' लेकिन कहावत और मुहावरों को छोड़कर वास्तविक भूमिका की चर्चा करें। भाषा हो, साहित्य हो या संस्कृति, वर्चस्ववादी समाज और हाशिये पर खड़े समाज के बीच हजारों कोस की दूरी बनी हुई है। भरे हाथ और खाली हाथ का जीवन एक ही धारा में कैसे चल सकता है, वह भी आज के भौतिकवादी युग में? भाषा में भी स्पष्ट भेद दिखाई देता है। हाशिये के समाज की भाषा अलग है और वर्चस्ववादी समाज की भाषा अलग। अभी इस विस्तार में नहीं जाऊँगा कि भारोपीय भाषाओं का उदय कैसे हुआ।

भाषा के साथ साहित्य भी जुड़ा है। बहुत से लोग आज भी भाषा को साहित्य और साहित्य को भाषा समझते हैं। लेकिन फिलहाल मूल प्रश्न यह है कि मैथिली में जो साहित्य रचा जा रहा है, वह समाज से कितना जुड़ा हुआ है? क्या स्थिति ऐसी नहीं है कि हम अमेरिका की बीसवीं मंजिल पर बैठे कम्प्यूटर में मिथिला को देख-सुन रहे हैं और कल्पना कर रहे हैं कि मिथिला में ही रहकर साग-पात तोड़कर खाएँगे? अभी साहित्य के विस्तार में नहीं जाएँगे। इतना ही कि अपनी भाषा,

अपने साहित्य और अपनी संस्कृति का निर्माण हमें स्वयं करना होगा। अपने प्रयास से ही यह सम्भव होगा।

आज पूरे देश में आरक्षण का प्रश्न उठता है। लेकिन आरक्षण क्या है और उसकी आवश्यकता क्यों है? महिला आरक्षण अथवा हरिजन और निचले तबकों के आरक्षण को हम किस रूप में देखते हैं? पंचायत चुनावों में महिलाओं को पचास प्रतिशत आरक्षण दिया गया है। इसके अतिरिक्त हरिजन और निचले तबकों के लिए भी आरक्षण है। लेकिन अनेक पंचायतों में जो मुखिया पाँच चुनाव पहले थे, प्रभाव आज भी उसी का बना हुआ है। अन्य आरक्षणों की स्थिति भी बहुत हद तक ऐसी ही है।

अन्तर्जातीय विवाह का कानून पण्डित जवाहरलाल नेहरू के समय पारित हुआ, लेकिन समाज में उसकी वास्तविक स्थिति क्या है? अपहरण, हत्या और विषपान की घटनाएँ किस रूप में बढ़ रही हैं? बोलते समय हम सभी कहते हैं कि प्रकृति के अनुकूल आचरण करें, अच्छे विचार रखें, लेकिन व्यवहार में क्या दिखाई देता है? समाज में लड़कियों का अनुपात दिन-प्रतिदिन कम क्यों हो रहा है? भ्रूणहत्या की बीमारी इतनी कैसे फैल गई?

सार्वजनिक संस्थाएँ आज भी बहुत हद तक उसी ढर्रे पर चल रही हैं, जिस पर स्वतंत्रता से पहले चलती थीं। आवश्यकता है कि पिछड़े समाज के रचनाकार अपने जीवन के अनुकूल रचनाएँ करें। केवल गीत-संगीत से समाज को कितनी दूर तक ले जाया जा सकता है? आज की शिक्षा के पाठ्यक्रम को वर्तमान सामाजिक परिवेश के अनुकूल बनाया जाए। आज समाज जो दिशाहीन हुआ है, उसमें सार्वजनिक संस्थाओं की भी भूमिका है। साहित्यकार भी समाज को देखकर लिखता है, केवल कल्पनालोक के आधार पर नहीं। आज से लगभग एक हजार वर्ष पहले ज्योतिरीश्वर ने 'धूर्तसमागम' समाज को देखकर लिखा था। इसलिए जो जहाँ है, वहीं खड़ा होकर अपनी शक्ति को जगाएँ। अकेला

व्यक्ति भी बहुत कुछ कर सकता है। अकेले भाई राजनन्दन लाल दास ने अपने बल पर 'कर्णामृत' जैसी पत्रिका का सम्पादन लगभग पैंतीस-चालीस वर्षों तक सँभाला। अभी चन्द्रमोहन बाबू, जो आन्ध्र प्रदेश के हैदराबाद में हैं, उन्होंने भी मैथिल रचनाकारों का एक मंच तैयार किये हैं। जो जहाँ हैं, वहीं से उठकर खड़ा हों और अपनी मातृभाषा, मातृभूमि तथा संस्कृति की रक्षा के लिए कुछ करें।

15 अगस्त 1947 को हमारा देश स्वतंत्र हुआ। स्वतंत्रता को मित्रों के बीच होने वाले साधारण लेन-देन की तरह न समझिए। अंग्रेज शासकों से मुकाबला हुआ और उस मुकाबले में पराजित होकर अंग्रेज यहाँ से गए। यह मुकाबला केवल बातचीत और विचार-विमर्श का नहीं, शक्ति का भी था। लाखों देशभक्तों ने अपनी जान गँवाई। उनके बलिदानों को व्यर्थ होने से बचाना आज हमारे और आपके ऊपर है। उसकी रक्षा हमें ही करनी है।

अपनी भाषा, साहित्य और संस्कृति को परिमार्जित करते हुए अगली पीढ़ी तक हम ही पहुँचाएँगे। आज हम स्वतंत्रता के पचहत्तर वर्ष बाद के देश में खड़े हैं। अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य में जो लोकतंत्रीकरण हुआ, वह मैथिली भाषा-साहित्य में नहीं हो सका है। वह अब भी प्रतीक्षा में है। भाषा के आधार पर जो क्षेत्रीय विभाजन दिखाई देता है, वह भ्रम का जाल है। मैथिली क्षेत्र का पूर्वी हिस्सा नदियों और धाराओं से भरा इलाका है। वहाँ के लोगों को आवागमन और जीविका में अनेक कठिनाइयाँ हैं। कोसी-कमला के पूर्वी भाग में सूखा लगभग एक जैसा पड़ता है, लेकिन जलप्लावन की स्थिति में कमी-बेसी होती रहती है। प्राकृतिक आपदाएँ अधिक हैं। आवागमन की कठिनाइयों के कारण यदि पूर्वी हिस्सा मध्य क्षेत्र से कुछ पीछे रह गया तो इससे वहाँ के लोग मैथिल नहीं रहे अथवा वह क्षेत्र मिथिला का नहीं रहा, ऐसा मानना अनुचित है। जिस प्रकार पूर्वी हिस्से को नीचा दिखाया गया, उसी प्रकार पश्चिमी और दक्षिणी हिस्से को भी।

हम इक्कीसवीं शताब्दी में हैं, इसलिए अन्धविश्वास को रोकना

होगा। वह कैसे रुकेगा? हमने अगड़े और पिछड़े समाज के बीच संघर्ष का संकल्प लिया है। सफलता के लिए पूरे समाज को उठकर खड़ा होना होगा। लेकिन प्रबुद्ध समाज यदि अपने सम्बन्धों का विस्तार करना चाहे तो वह ऐसा कर ही सकता है। जैसे हम 'उगा-डुमा-पूबा' कहते हैं, वैसे ही अपने पूर्वजों की भूलों को समाज के सामने रखकर उन्हें पाटना होगा। अभियान प्रत्येक जिले और प्रत्येक क्षेत्र तक पहुँचना चाहिए।

हाँ, एक बात छूट गई। पूर्वी, दक्षिणी, पश्चिमी और मध्य हिस्से का जो विभाजन किया जाता है और वियोगीजी, अर्थात तारानन्द 'वियोगी', के विचार से मधुबनी और दरभंगा जिले को जो मध्य क्षेत्र माना जाता है, वह भ्रमित करने वाला विचार है। वास्तविकता कुछ और है। कहावत है, 'ऊपर चढ़ि-चढ़ि देखा, सब घर एक्के लेखा।' जहाँ सामाजिक-राजनीतिक प्रश्न आएगा, वहाँ सोतिबाबू ब्राह्मणबाबू पर भरोसा नहीं करेंगे। इसीलिए सोतिबाबू के दरबार में खजाने की जिम्मेदारी उन्हें कभी नहीं दी गई, लेकिन किसी पिछड़े अथवा निचले तबके के व्यक्ति को भण्डार की चाबी जरूर सौंपी गई। फिलहाल इतना ही।

आगे बढ़ें। मैथिली साहित्य की दृष्टि से राजपूत परिवार पिछड़े हैं। इसी प्रकार भूमिहार परिवार भी पिछड़े हैं। इसके अनेक कारण हैं, लेकिन अभी उनके विस्तार में नहीं जाएँगे। फिलहाल इतना कि मैथिली एक क्षेत्रीय भाषा है, अर्थात एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र की भाषा। इन दोनों जातियों में विवाह-सम्बन्ध प्रायः इस क्षेत्र से बाहर होते रहे हैं। इससे मिथिला अनेक भाषाओं का संगम-स्थल भी बनी है। परिणाम यह है कि एक ही परिवार में तीन-तीन, चार-चार भाषाएँ प्रचलित हो जाती हैं। ऐसी स्थिति में मैथिली के सामने समस्या उत्पन्न होना स्वाभाविक है।

आज पूर्वी, पश्चिमी अथवा दक्षिणी हिस्सों के मैथिलीभाषियों की तुलना में मध्य क्षेत्र, अर्थात मधुबनी-दरभंगा के कुछ लोग अपने को

परिनिष्ठित मैथिली का प्रतिनिधि अथवा अधिक अगड़ा मानते हैं, तो यह भी भ्रम है। वे यह नहीं देख रहे कि एक ही गाँव-समाज में यदि दस-बीस या पच्चीस-पचास जातियों के लोग रहते हैं तो उनकी बोली-वाणी और सामाजिक जीवन में कितना अन्तर होता है। अलग-अलग जातियों के जीवन में अन्तर है, इसलिए उनकी भाषा और साहित्य में भी अन्तर होना स्वाभाविक है।

सभी लोग विद्यापति की रचनाओं को परिनिष्ठित भाषा की रचना मानते हैं। इस सन्दर्भ में अधिक नहीं कहूँगा, लेकिन दो बातें अवश्य कहूँगा। पहली, आज बिस्फी गाँव की भाषा कैसी है, यह हमारे सामने जीवित प्रश्न है। वहाँ जाकर देखिए कि गाँव की वास्तविक भाषा कैसी है। दूसरी, विद्यापति की रचनाओं के पुराने संस्करणों की आज के संस्करणों से तुलना कीजिए। इसके साथ एक बात और। एक ही जाति के तीन रचनाकार हों, एक अंग्रेजी पढ़कर आया हो, दूसरा संस्कृत और तीसरा विज्ञान या किसी सामान्य विषय का विद्यार्थी रहा हो, तो तीनों की रचनाओं की भाषा में अन्तर स्पष्ट दिखाई देगा। फिलहाल इतना ही।

आवश्यकता इस बात की है कि आज के सामाजिक परिवेश में कैसी भाषा, कैसा साहित्य और कैसी संस्कृति चाहिए। हमारे यहाँ विवाह अथवा उपनयन के समय 'मड़वा', अर्थात संस्कार का पारम्परिक मंडप, बनाया जाता है। वह मड़वा किसका सूचक है? वह एक वैदिक परिवार का सूचक है। आज परिवार का स्वरूप बदल रहा है और उसके साथ नई-नई समस्याएँ भी पैदा हो रही हैं। परिवेश की माँग है कि नारी-जागरण के लिए नारी-शिक्षा आवश्यक है। वैसे पुरुषों की स्थिति भी बहुत अच्छी नहीं है, लेकिन महिलाओं की स्थिति और कठिन है। एक तो शिक्षा-व्यवस्था महँगी होती जा रही है। उस पर यदि अपनी बेटी को अच्छी शिक्षा देना चाहें और दें भी, तो विवाह के समय क्या करेंगे? जितना उसकी पढ़ाई पर खर्च किया, उतना ही विवाह में भी खर्च करें? यही तो मिथिला के निर्लज्ज समाज की स्थिति है। खैर, अधिक नहीं

कहूँगा।

अन्त में इतना ही कि मैथिल आज मिथिला के प्रत्येक हिस्से में ही नहीं, पटना, दिल्ली, गुजरात, मुम्बई, हैदराबाद, बंगलौर, मद्रास और कोलकाता जैसे देश के अनेक शहरों में रहते हैं। जो जहाँ हैं, वह अपनी मैथिल अस्मिता के लिए भाषा, साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र में कुछ-न-कुछ सेवा करे। जिस प्रकार हम कहते हैं कि मैथिली भाषा मर रही है, उसी प्रकार यह भी देखना चाहिए कि मैथिली अब केवल मिथिला क्षेत्र की भाषा नहीं रही, बल्कि पूरे देश में फैल चुकी है। मूल प्रश्न यह है कि स्वतंत्र देश में भाषा का स्वरूप क्या हो, साहित्य का स्वरूप क्या हो और संस्कृति में क्या सुधार किए जाएँ। बात अन्ततः इतनी ही है कि मिथिला का समाज आज के समय के अनुकूल बने।❑

अंतरराष्ट्रीय मैथिली सम्मेलन-2011, गुवाहाटी

सबसे पहले इस पर्व-समारोह के सहयोगियों और मिथिला सांस्कृतिक समन्वय समिति को धन्यवाद देता हूँ कि उन्होंने मिथिला और कामरूप के बीच युगों से प्रवाहित होती जीवनधारा को जीवित रखा है। आशा करता हूँ कि आगे भी इस प्रवाहमान धारा को इसी तरह जीवित रखेंगे।

कामरूप और मिथिला के बीच सम्बन्ध कब से प्रारम्भ हुआ, इसकी कोई निश्चित तिथि ज्ञात नहीं है, लेकिन सहस्रों वर्षों से यह जीवनधारा प्रवाहित होती आ रही है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। कामरूप कभी प्राग्ज्योतिष कहलाता था। सम्भव है, तभी से दोनों के बीच सम्बन्ध रहा हो। वैसे इतिहास का विद्यार्थी न होने के कारण इतिहास का गहरा अध्ययन नहीं किया है, लेकिन दोनों के बीच प्रगाढ़ सम्बन्ध बना चला आ रहा है, इसमें कोई दो राय नहीं। बचपन में भी बुजुर्गों के मुँह से सुनता था कि अमुक व्यक्ति कामरूप का 'सीख' है। इतना ही नहीं, मिथिलावासियों के लिए कामरूप-कामाख्या आदिकाल से तीर्थस्थल रहा है और आगे भी रहेगा। जिस प्रकार बंगाल का गंगासागर और दक्षिणेश्वर, उड़ीसा का कोणार्क और जगन्नाथ, मद्रास का श्वेतबान-रामेश्वर और कन्याकुमारी, गुजरात की द्वारिका, राजस्थान का पुष्कर, पंजाब का स्वर्ण मन्दिर, कश्मीर की वैष्णो देवी और अमरनाथ, उत्तरांचल का बद्रीनाथ और हरिद्वार तथा उत्तर प्रदेश का काशी, विंध्याचल और मथुरा-वृन्दावन आदि तीर्थस्थल रहे हैं, उसी प्रकार कामरूप-कामाख्या भी रहा है। उस समय भी यह सम्बन्ध था,

जब आवागमन के साधनों का अभाव था।

गंगा-ब्रह्मपुत्र के मैदान के बीच बसे मिथिला और कामरूप में खेती-बाड़ी से लेकर जीवन के अन्य पक्षों तक सहज सम्बन्ध दिखाई देता है। जिस प्रकार कामरूप तलहटी के मैदान से लेकर पहाड़, पठार, वन और प्रवाहित जलधाराओं से सम्पन्न है, उसी प्रकार बिहार भी है। बंगाल की खाड़ी से उठने वाले मानसून से जिस प्रकार कामरूप की भूमि सिंचित होती है, उसी प्रकार मिथिलांचल की भी। सामने पड़ने के कारण कामरूप में वर्षा अधिक होती है और जैसे-जैसे मानसून पश्चिम की ओर बढ़ता है, वर्षा कम होती जाती है। फिर भी दोनों की निकटता के कारण बहुत अधिक अन्तर नहीं पड़ता। गंगा-ब्रह्मपुत्र की एक ही तलहटी में होने के कारण मिट्टी और मिट्टी की सुगन्ध में भी समानता है। उत्तर के पहाड़ों से निकलने वाली जलधाराएँ भी लगभग एक जैसी हैं। जहाँ जैसी मिट्टी और पानी, वहाँ वैसी ही खेती-बाड़ी। जहाँ जैसी खेती-बाड़ी, वहाँ वैसा ही खान-पान और आचार-विचार। और जहाँ जैसा खान-पान तथा आचार-विचार, वहाँ उसी के अनुरूप कला-संस्कृति का सम्बन्ध। यह सम्बन्ध दोनों के बीच आदिकाल से रहा है।

खेती-बाड़ी में समानताएँ भी हैं और भिन्नताएँ भी। वर्षा की मात्रा में अन्तर होने से पानी, फसल और फल-फूल में भी अन्तर होना स्वाभाविक है। कामरूप में नारियल, सुपारी और चाय की बहुतायत है, जबकि मिथिलांचल में ये अपेक्षाकृत कम हैं। दूसरी ओर मिथिलांचल में केवल आम की ही हजारों किस्में हैं। लेकिन पटुआ और धान जिस प्रकार कामरूप की मुख्य फसलें हैं, उसी प्रकार मिथिला की भी। जिस प्रकार नए आविष्कारों के कारण नील की खेती समाप्त हो गई, उसी प्रकार पॉलिथीन के आगमन से पटुआ की खेती भी प्रभावित हुई है।

मिथिला की भूमि उर्वर है। मिट्टी-पानी की तरह यहाँ की स्वच्छ हवा ने भी खेती से लेकर जीवन-पद्धति और कला-संस्कृति तक के विकास में योगदान दिया है। मिथिलांचल की चिन्तनधारा में केवल उच्च

कोटि के मनुष्य ही नहीं, उच्च कोटि के समाज और सामाजिक व्यवस्था की दिशा का चिन्तन भी रहा है। जन-गण का नगर जनकपुर रहा और जनकपुर के राजा जनक हुए, जिनकी पुत्री जगत्-जननी जानकी थीं। एक-से-एक चिन्तक, तत्त्ववेत्ता और दार्शनिक मिथिला की भूमि ने पैदा किए हैं, जिनकी झलक इतिहास और पुराणों में आज भी जीवित है।

जिस प्रकार पूरा देश हजारों वर्षों तक गुलामी के शिकंजे में रहा, उसी प्रकार देश के उत्तर-मध्य में स्थित मिथिला भी। वैसे मिथिला दो देशों में बँटी हुई है। साठ-पैंसठ वर्ष पहले भारत ने स्वतंत्रता की साँस ली, जबकि नेपाल की मिथिला ने हाल के समय में साँस ली। जिस प्रकार अभावग्रस्त परिवार में अभाव के कारण जीवन का हर पक्ष प्रभावित होता है, वही स्थिति यहाँ भी हुई। जीवन-पद्धति में खोट आते-आते वह और विकृत होती गई और उसका प्रभाव भी प्रतिकूल पड़ता गया। फिर भी मिथिला की भूमि वही है, जो आदिकाल से रही है।

मिथिलांचल की भूमि उर्वर होने के कारण यहाँ जनसंख्या भी हमेशा अधिक रही है, आज भी है और आगे भी रहेगी। कितने ही मिथिलावासी पलायन कर दुनिया के विभिन्न हिस्सों में बस गए, फिर भी मिथिला की जनसंख्या पर्याप्त है। इससे गरीबी भी बनी रही है। एक दृष्टि से देखें तो जनसंख्या पर्याप्त है और सम्पत्ति भी प्रचुर है, लेकिन दोनों के संयोग में असमानता है। इससे उनके बीच एक बड़ी खाई बन गई है। जिनका गाँव है, उनके पास सम्पत्ति नहीं और जिनके पास सम्पत्ति है, उनका गाँव से सम्बन्ध नहीं। परिणाम यह हुआ कि मुट्ठी भर लोगों ने अधिकांश सम्पत्ति पर अधिकार कर लिया। इसका ज्वलन्त उदाहरण पलायन है।

गरीबी के कारण मिथिलावासी आज ही नहीं, बहुत पहले से नेपाल, बंगाल और आसाम तक रोजी-रोटी के लिए जाते रहे हैं। पटुआ काटना, धान रोपना और धान काटना उनके मुख्य काम थे। वर्ष के लगभग छह महीने वे कमाते थे। लेकिन इससे कुछ बड़ी उपलब्धियाँ

भी हुईं। वे अपने साथ अपनी भाषा और कला-संस्कृति लेकर आते थे और ले भी जाते थे, जिससे दोनों क्षेत्रों के बीच सम्बन्ध अधिक प्रगाढ़ होता गया। एक साथ रहने से सभी प्रकार के सम्बन्ध बने और वे आज भी प्रवाहमान धारा की तरह बह रहे हैं। इसलिए इस पावन अवसर पर समन्वय समिति के साथ विद्यापति को भी कोटिशः नमन!

पूर्वांचल और मिथिला के बीच व्यापारिक सम्बन्ध भी आदिकाल से रहे हैं। गाय-भैंस का व्यापार होता रहा है। साथ ही कलाकारों और कलाओं का आदान-प्रदान भी चलता रहा है। आज भी मिथिला के श्रमिक वर्ग के बीच पूर्वांचल की भाषाएँ जितनी फैली हुई हैं, उतनी मध्य और उच्च वर्गीय परिवारों के बीच नहीं।

विद्यापति पर्व-समारोह के इस पावन अवसर पर विद्यापति को केवल मिथिला और मैथिलों का कवि कहना उनके साथ अन्याय होगा। इससे उनकी आत्मा को ठेस पहुँचेगी। वे युग-पुरुष थे। भाषा और साहित्य की अपनी धारा होती है और उस धारा के बीच विद्यापति आज भी खड़े हैं। जब वैदिक भाषा ने जन-गण के बीच अपनी साहित्यिक धारा पकड़ी, तभी से समाज में एक नया समाज उठकर खड़ा हुआ। वह विकसित होते-होते कालिदास तक आते-आते स्पष्ट रूप में सामने आ गया। लेकिन जीवन के लिए भाषा अनिवार्य है, इसलिए जन-गण के बीच पाली भाषा का उदय हुआ। आगे बढ़ते हुए प्राकृत और अपभ्रंश से गुजरकर यह धारा अवहट्ट तक पहुँची।

अवहट्ट की सीमा पर विद्यापति अपनी ‘कीर्तिलता’ लेकर खड़े हैं, जिसमें जन-गण की आत्मा झलकती है। वैसे वे संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित थे और यह उनकी रचनाओं में स्पष्ट दिखाई देता है। वे उगना जैसे साथी के साथ रहते थे, जो उन्हें गंगाजल पहुँचाता था। एक भाँग पीसने में मस्त, तो दूसरा उसे पी-पीकर मस्त! ऐसी स्थिति में विद्यापति अपनी पत्नी से भी झगड़कर उगना के लिए निष्काम प्रेम की धारा न बहाते, तो भला कैसे होता?

अन्त में यही शुभकामना है कि जिस प्रकार हम आदिकाल से एक-दूसरे से जुड़े रहे हैं, उसी प्रकार आगे भी जुड़े रहकर साथ चलते रहें। ऐसे पर्व और भी बड़े रूप में आयोजित होते रहें, यही शुभेच्छा है।

जय मैथिली! जय मिथिला!! जय कामरूप! जय भारत!! जय मानव!!! ❑

'सगर राति दीप जरय' की 100वीं कथा-गोष्ठी के संदर्भ में

जिस प्रकार उदय और प्रलय शाश्वत सत्य है, उसी प्रकार जीवन और जीवन की गतिविधियाँ भी। मैथिली साहित्याकाश में बीसवीं शताब्दी का आठवाँ दशक ऊर्जावान साहित्यकारों की ऐसी टोली का समय था, जैसा वर्षा के बाद ओस-पाले और धूल-गर्द से मुक्त स्वच्छ वायुमण्डल और आकाश होता है। एक साथ हरिमोहन बाबू (हरिमोहन झा), तंतर बाबू (तंत्रनाथ झा), मधुपजी (काशीकान्त मिश्र 'मधूप'), किरणजी (काञ्चीनाथ किरण), मणिपद्मजी (ब्रज किशोर वर्मा 'मणिपद्म'), शेखरजी (सुधांशु शेखर चौधरी), योगाबाबू (योगानन्द झा), राघवाचार्यजी (बोध नारायण झा), बहेड़जी (राधाकृष्ण झा 'बहेड़') और राधाकृष्ण चौधरीजी जैसे साहित्यकार मैथिली साहित्याकाश में दुनिया की सभी दिशाओं को देखने वाले थे। दार्शनिक होते हुए भी हरिमोहन बाबू को मैथिली साहित्य ने हास्य से आगे बढ़ने ही नहीं दिया! इक्कीसवीं शताब्दी की माँग है कि उनकी समीक्षा मिथिला की चिन्तनधारा और अध्यात्म-दर्शन की कसौटी पर हो। उसी प्रकार राधाकृष्ण चौधरीजी के इतिहास-बोध के मूल तत्त्वों की भी समीक्षा होनी चाहिए। चौधरीजी का इतिहास समाज और पाठकों के बीच नई सोच और नई दृष्टि पैदा करता है, इसलिए उन्हें उसी दृष्टि से देखा जाना चाहिए। सम्भव है कि उनकी कुछ पुस्तकें हाथ न लगी हों, लेकिन इतिहास तो इतिहास ही है। जो इतिहास अभी तक राजा-रजवाड़ों से आगे नहीं बढ़ सका है, उसमें इतिहास की पूर्णता देखना उचित नहीं। दुर्भाग्य यह रहा है कि अब तक का इतिहास सामाजिक

ताने-बाने को ठीक से खोज नहीं सका है। आज भी मिथिला का खान-पान और घर-द्वार अपने आदिम स्वरूप को बचाए हुए है। केवल देखने वाली दृष्टि की आवश्यकता है। जो मधुपजी पोरो साग को देख सकते थे, क्या वे उसे खाने वाले मनुष्य को नहीं देख पाते? यह रहस्यमय है। किरणजी तो सचमुच मैथिली के किरण ही थे। लकड़ी के पैडल वाली साइकिल पर शतरंजी तह करके रखे रहते थे। स्वभाव शरद के चाँद की तरह उज्ज्वल। अतिथि-सत्कार में बस चाय! बीच में एक प्रश्न उठता है, ऐसी टोली आज क्यों नहीं है? साहित्य-जगत में जागरण था और समाज के भीतर यह जिज्ञासा थी कि साहित्य हमारा भी है।

किरणजी स्पष्ट कहते थे, जिस तरह बोलते हैं उसी तरह लिखिए और समाज को जैसा देखते हैं वैसा ही विषय बनाइए, वही साहित्य है। किरणजी का जैसा विचार था, वैसा ही राहुल सांकृत्यायनजी का भी था। उनका भी कहना था कि अपनी बात दूसरे तक और दूसरे की बात अपने तक ठीक तरह पहुँच जाए, वही उस भाषा का व्याकरण है। शब्द भाषा की धारा का एक अंग है, भाषा की धारा उससे कहीं व्यापक होती है। एक भाषा दूसरी भाषा में कैसे प्रवेश करती है, वह अलग प्रक्रिया है। मणिपद्मजी सचमुच साहित्य का मर्म समझने वाले 'मणिपद्म' थे। अपने जीवनानुभव और दरभंगा जिले के पूर्वी हिस्से की जो स्थिति तब थी और आज भी है, उसी के अनुरूप उनका सृजन था। वे अपनी तरह के विशिष्ट साहित्यकार थे। केवल एकांगी कवि नहीं, लोकगाथा का मर्म समझने वाले भी थे। आठवें दशक की उर्वरता के पीछे ऐसे ही साहित्यकार थे। जिस प्रकार आठवाँ दशक उर्वर था, उसी तरह नौवाँ दशक धीरे-धीरे ऊसर होता गया। फिर भी साहित्य की धारा बहती रही। एक बात और, आठवाँ दशक ऐसा भी रहा जिसमें गाँव-गाँव में भटके-बिसरे कुछ साहित्यकार फिर सामने आए। लेकिन आज भी बहुत से गुमनाम हैं और कुछ तो सचमुच खो भी गए।

'सगर राति दीप जरय' कथा-गोष्ठी के आयोजन की अवधारणा किरणजी की जयन्ती के अवसर पर लोहना (धर्मपुर) में एकत्रित

साहित्यकारों के बीच जन्मी, लेकिन उसे साकार करने का श्रेय प्रभास कुमार चौधरीजी को गया। किरणजी जैसे भीतर तक खोज-बीन करने वाले साहित्यकार के विचार को व्यवहार में स्थापित करने का अवसर प्रभासजी को मिला। प्रभासजी का जीवन अपनी तरह का था, सोच अपनी तरह की, सृजन अपनी तरह का और दृष्टि भी अपनी तरह की। असीम जिज्ञासा और संवेदना उनके रग-रग में बसी थी, जिसका परिचय उनकी जीवन्त रचनाएँ आज भी देती हैं।

साहित्यकारों के बीच सहमति बनी कि जिस प्रकार पंजाबी साहित्य में 'दीवा जले सारी रात' कथा-गोष्ठी रात भर होती है, उसी प्रकार मैथिली में भी हो। नए उत्साह और नई जिज्ञासा के साथ प्रभास भाई ने कदम उठाया। उनके मन में था कि साहित्यिक धारा समाज के साथ चले। लेकिन कुछ ही वर्षों बाद उनका निधन हो गया।

पहली कथा-गोष्ठी का आयोजन मुजफ्फरपुर में हुआ। वहाँ प्रभासजी नौकरी करते थे। गोष्ठी रेणुजी की अध्यक्षता में हुई। रेणुजी भी समाज को निष्पक्ष दृष्टि से देखते थे। उस दिन से आज तक यह कथा-गोष्ठी मैथिली साहित्य की धरोहर और पूँजी है। एक तो यह कथा-गोष्ठी है और दूसरे, कथा साहित्य की प्रमुख विधाओं में है, इसलिए इसे इस आयोजन की पहली संतान भी कहा जा सकता है।

पहली कथा-गोष्ठी जनवरी 1990 ई. में हुई। उसमें रमेशजी ने "थाक", श्रीनिवासजी (शिवशंकर श्रीनिवास) ने "वसातमे बहैत लोक", विभूति आनन्दजी ने "अन्यपुरुष", अशोकजी ने "पिशाच", सियाराम सरसजी ने "ओहि साँझक नाम" और प्रभासजी ने "खूनी" कथा का पाठ किया। रविन्द्र चौधरीजी ने भी कथा-पाठ किया। इसी बीच एल.एस. कॉलेज के अच्छे शिक्षक डॉ. नन्द किशोर ने हिन्दी में कथा-पाठ किया। दुर्भाग्य यह भी कि मैथिलीभाषी होते हुए उन्होंने हिन्दी में पाठ किया। वे समीक्षक भी थे। कथा-समीक्षकों में कथाकारों के साथ रमानन्द झा 'रमण'जी, भीम भाई (भीमनाथ झा), मोहन भारद्वाजजी

और जीवकान्त भी थे। जीवकान्त ने कथा-पाठ किये थे या नहीं, इसकी ठीक जानकारी नहीं है। इनके अतिरिक्त कुछ दर्शक भी स्वाभाविक रूप से उपस्थित थे।

तीसरी कथा-गोष्ठी से पुस्तकों का लोकार्पण शुरू हुआ, जो बढ़ते-बढ़ते दरभंगा गोष्ठी में शिखर तक पहुँच गया। एक साथ पैंतीस-चालीस पुस्तकों का लोकार्पण हुआ। निर्मली कथा-गोष्ठी से पहले तक यही सबसे बड़ी संख्या थी। निर्मली गोष्ठी में पैंतालीस-पचास पुस्तकों का लोकार्पण हुआ। कथा-गोष्ठी से कथा-धारा में गति आई, नए-नए रचनाकारों का प्रवेश होता रहा और गोष्ठी आगे बढ़ती रही। लेकिन आयोजन में एकरूपता नहीं रही। कहीं ऐसा हुआ कि शाम से सुबह हो गई, फिर भी कुछ कथाकारों की कथा बाकी रह गई, तो कहीं आधी रात में ही व्यवस्थापक चाय-पानी समेटने लगे। खैर, जो हुआ सो हुआ।

साहित्यिक गोष्ठी साहित्यकारों का मंच है। इस मंच पर सभी को अपना विचार रखने का अधिकार है। जब सभी मिथिला का विकास चाहते हैं, तब मत-मतान्तर से डर कैसा? कथा-गोष्ठी के साथ कथा-विचार मंच की भी आवश्यकता है। लेखन का मानदण्ड और समीक्षा की कसौटी कौन बनाएगा? बीते युग की दृष्टि वर्तमान साहित्य का समुचित मूल्यांकन नहीं कर सकती। प्रत्येक युग अपनी साहित्यिक कसौटी स्वयं गढ़ता है। इसलिए समकालीन रचनाओं का मूल्यांकन समकालीन रचनाकारों और समीक्षकों की ऐतिहासिक जिम्मेदारी है। समकालीन रचनाकारों की रचनाओं को उनके स्तर के अनुसार पाठ्यक्रम में स्थान मिलना चाहिए।

दुनिया में बड़े-बड़े शिक्षण संस्थान जनसहयोग से चल रहे हैं, तो क्या हमारे यहाँ नहीं चल सकते? हमारे पास विश्वविद्यालय है, रेडियो स्टेशन है। वे बेहतर ढंग से विकसित हों, यह सबकी जिम्मेदारी है। एक विश्वविद्यालय ऐसा है जो पूरी तरह सरकार की ओर देखता है और वहाँ भी लूट की बाढ़ है, तो उससे कितनी आशा की जा सकती है? मिथिला

में आर्थिक सामर्थ्य वाले शिक्षा-प्रेमी नहीं हैं, ऐसा भी नहीं। गजेन्द्रजी (गजेन्द्र ठाकुर) के सम्पादन में नागेन्द्रजी (नागेन्द्र झा, श्रुति प्रकाशन) के सहयोग से जितनी पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं, वह अपने-आप में एक उदाहरण है। व्यक्तिगत रूप से भी गजेन्द्रजी को कैसे भुलाया जा सकता है, जिन्होंने टैगोर पुरस्कार के लिए एड़ी-चोटी एक कर दी। कोचीन जाते समय पटना एयरपोर्ट तक अपनी गाड़ी से पहुँचाकर सारी व्यवस्था देखी-सुनी और दुर्गानन्द मण्डल के साथ विदा किया। उनकी सोच स्पष्ट है कि आर्थिक दृष्टि से कमजोर रचनाकारों की रचनाएँ प्रकाशित हों। उन्होंने ऐसा किया भी है और कर भी रहे हैं।

अन्त में व्यवस्थापक ओम बाबू (ओम प्रकाश झा) निर्मली गोष्ठी में अपना गजल-संग्रह लेकर लोकार्पण कराने पहुँचे। वैसे उनके बारे में पहले से थोड़ा-बहुत जानता था, लेकिन उन्हें सामने देखकर मन में एक अलग हलचल हुई। कुछ करने की जिज्ञासा उनके मन में है। आगे की बात आगे होगी, फिलहाल इतना ही। अन्त में, जिस प्रकार अन्धे माता-पिता को काँवर पर बिठाकर श्रवणकुमार चारों धाम दिखाने के लिए निकले थे, उसी आशा के साथ अपने दो शब्दों को विराम देता हूँ। धन्यवाद! जय मैथिली।

शुभकामना

आज अध्यक्ष या अन्य पदाधिकारियों का चुनाव तो हुआ नहीं है। यह अच्छी बात है। तब अध्यक्षजी कहकर सम्बोधित कैसे करूँ? इसलिए, विद्वतजन...।

आज हम सब सौवें कार्यक्रम को एक पर्व की तरह मना रहे हैं। किसी भी पर्व या कार्यक्रम में, चाहे वह साहित्यिक कार्यक्रम हो अथवा राजनीतिक, जब जिम्मेदारी लेने वालों के भीतर यह भावना आ जाती है कि यह कार्यक्रम अपना है और यदि कहीं कोई त्रुटि भी हो रही है तो उसे अनदेखा करते हुए यह सोचा जाए कि कार्यक्रम को अधिक-से-अधिक सफल और बेहतर कैसे बनाया जाए, तब कार्यक्रम सचमुच

सफल होता है। आज का आयोजन इसका स्पष्ट प्रमाण है। सभी की जिज्ञासा यही रही कि कार्यक्रम सफल हो।

यहाँ साहित्यिक क्षेत्र में काम करने वाले बड़े-बड़े विद्वान उपस्थित हैं। भाषा की दृष्टि से मैथिली की सामर्थ्य देखनी हो तो कोई अंग्रेजी शब्दकोश उठा लीजिए। जहाँ अंग्रेजी में एक शब्द मिलेगा, उसी अर्थ के मैथिली में अनेक शब्द मिल सकते हैं। इतनी समृद्ध जनभाषा मैथिली है। इस भाषा का जन्म धरती से हुआ है और समय के अनुकूल बदलते हुए यह आगे भी बढ़ती रहेगी। भाषा का जन्म और विकास कभी अवरुद्ध नहीं होता। इसलिए भाषा कमजोर नहीं है। हाँ, साहित्य के क्षेत्र में हमारी रचनाएँ अपेक्षाकृत कम हैं और सभी विधाओं में समान रूप से काम नहीं हुआ है। एक कमी यह भी दिखाई देती है कि कभी-कभी हम आवश्यकता से अधिक अतीत की ओर चले जाते हैं। अतीत इतिहास है, पुराण है, परम्परा है। उससे सीख लेना आवश्यक है। लेकिन उसी को वर्तमान और भविष्य बना देंगे तो साहित्य की गति अवरुद्ध हो जाएगी।

आज के कार्यक्रम में एक बात सुनी। ठीक ही शिवकुमार बाबू ने कहा कि “कुछ लोग समूह बनाकर...!”

लेकिन नहीं। आज जिस प्रकार हम सभी एक स्थान पर मैथिली के कल्याण के प्रश्न पर विचार कर रहे हैं, इसी तरह एकजुट होकर आगे बढ़ते रहेंगे तो विकास अवश्य होगा। विकास समय की प्रक्रिया है। वह धीमी गति से हो या तेज, उसे रोका नहीं जा सकता। आवश्यकता है कि अधिक-से-अधिक साहित्यिक कार्यक्रम हों और हम एक जगह बैठकर अपने विचारों का आदान-प्रदान करते रहें। आप भी मैथिली का कल्याण चाहते हैं, मैं भी चाहता हूँ। तब मतभेद विचारों का हो सकता है, लक्ष्य का नहीं।

हमारा इतिहास ही ऐसा रहा है। केवल इतिहास ही नहीं, जिसे हम ‘वैदिक बात’ या ‘शास्त्रीय बात’ कहते हैं, उसमें भी अलग-अलग

दिशाएँ बनीं। लगभग हर जगह ऐसा हुआ।

अब ब्रह्म के विषय को ही देखें तो किसी ने अद्वैत माना, किसी ने द्वैत, किसी ने द्वैताद्वैत और किसी ने विशिष्टाद्वैत। विचार के क्षेत्र में इस तरह अनेक मतवाद उठते और स्थापित होते रहे हैं। ये सभी अपने-अपने अलग बिन्दु हैं। लेकिन मैथिली, जो हमारी भाषा है और हमारा साहित्य है, उसके सम्बन्ध में मूल प्रश्न यह है कि वह किसकी है और किसके लिए है? इस बात को ध्यान में रखते हुए हमें मैथिली को दशा-दिशा देनी चाहिए।

मैथिली की प्रगति का अर्थ केवल भाषा या साहित्य की प्रगति नहीं है। मैथिली की प्रगति वास्तव में मिथिला-समाज की प्रगति है, आपकी-हमारी प्रगति है, अपने समाज की चेतना, आत्मविश्वास, विचार और लोकजीवन की प्रगति है। मैथिली जितनी आगे बढ़ेगी, मिथिला-समाज का मन, बुद्धि और संस्कार भी उतना ही आगे बढ़ेगा। इसी के भीतर उसकी कल्याणकारी शक्ति छिपी हुई है। इसलिए हमें इस पर ध्यान रखना चाहिए और ऐसे कार्यक्रम निरन्तर चलते रहना चाहिए।

और दिलीपजी से भी आग्रह करूँगा कि सघन कार्यक्रमों की दिशा में हम सभी सर्वसामान्य निमन्त्रण की भावना अपनाएँ। आप किसी कार्यक्रम के लिए सबको आमन्त्रित करें, मैं भी किसी कार्यक्रम के लिए सबको आमन्त्रित करूँ। कमल बाबू हों, नारायण बाबू हों या अन्य सक्रिय लोग, सभी कार्यक्रम कर रहे हैं। हमें सबके कार्यक्रमों को समान दृष्टि से देखना चाहिए कि यह सबका कार्यक्रम है, सबकी चीज है और हम सब एक साथ बैठें।

कौन आता है और कौन नहीं आता, इसके पीछे अनेक कारण हो सकते हैं। किसी को कई तरह की समस्याएँ हो सकती हैं, कोई परिस्थिति उपस्थित हो सकती है। इसका अर्थ यह नहीं होना चाहिए कि अमुक व्यक्ति नाराज है, इसलिए नहीं आया। ऐसी धारणा गलत है।

यह बात नहीं होनी चाहिए।

जिस तरह आज हमलोग मैथिली भाषा और साहित्य का झण्डा उठाकर सौवाँ कार्यक्रम कर रहे हैं, उसी तरह आगे भी उसे उठाए रखें। सौवें कार्यक्रम के बाद जो अगला आयोजन हो और दूसरे कोई कार्यक्रम हों, उन सबमें इसी प्रकार सक्रिय बने रहें और कार्यक्रम निरन्तर चलते रहें।

आज के कार्यक्रम को सफल बनाने के लिए विद्वतजन एकत्र होकर सौवाँ पर्व मना रहे हैं, इससे मुझे बहुत प्रसन्नता है। मेरी कामना है कि हमारी यह गाड़ी इसी तरह निरन्तर चलती रहे। इसी आशा के साथ मैं अपने विचारों को विराम देता हूँ। ❑

वेब कार्यक्रम, 29 जुलाई 2020

बीस-पच्चीस दिन पहले कमलेश बाबू का फोन आया। उन्होंने कहा कि जिन दिनों मैं कलकत्ता में रहता था, अर्थात अस्सी-पचासी के आसपास, उन्हीं दिनों के उनके एक पुराने साथी बम्बई में रहते हैं। उन्होंने एक कार्यक्रम शुरू किया है, जिसमें एक घंटे के वक्तव्य के लिए समय देना है।

कमलेश बाबू अपनी सामर्थ्य भर हमेशा मिथिला और मैथिली के लिए लगे रहते हैं। इसलिए यदि उन्होंने एक घंटे का समय माँगा तो एक घंटे की क्या बात, उन्हें कई घंटे दिए जा सकते हैं। मैंने पूछा कि एक घंटे के वक्तव्य के लिए कोई विषय निर्धारित किया गया है क्या? संयोग से राजकुमार बाबू से बातचीत हुई। बातचीत के क्रम में लगा कि अपनी मातृभूमि की सेवा करने की उनमें बहुत जिज्ञासा है। विषय ठीक तरह से स्पष्ट नहीं हुआ, लेकिन मन में इतनी खुशी अवश्य हुई कि कल जिन मजबूरियों के कारण मैथिल मिथिला छोड़कर बाहर सेवा देने गए, आज यदि उनके भीतर अपनी मातृभूमि की सेवा करने की जिज्ञासा जगी है तो यह बेहद प्रसन्नता की बात है। हमारे पूर्वज कहते आए हैं कि दिन भर का भटका हुआ व्यक्ति यदि साँझ को भी घर लौट आए तो उसे भटका हुआ नहीं माना जाता।

बन्धुगण, अब कार्यक्रम के बीच आएँ...।

आदरणीय मिथिला-मैथिली प्रेमी विद्वज्जनों! यह अत्यन्त प्रसन्नता की बात है कि मिथिला न्यूज लाइव चैनल द्वारा आयोजित इस साहित्यिक परिचर्चा में हम सभी एकत्र हुए हैं। इसके लिए राजकुमार

झा, पत्रकार कृष्ण कुमार तथा कमलेश बाबू को धन्यवाद।

बोलने का अवसर मिला है, इसलिए 'मिथिला जीवन' को आधार बनाकर अपना विचार रखूँगा। वैसे यह अपने-आप में बहुत व्यापक विषय है। मूल प्रश्न की शाखा-प्रशाखाओं पर विचार करने लगें तो बात बहुत दूर तक जाएगी। इसलिए कुछ विशेष बिन्दुओं पर ही अपने विचार रखूँगा। वे बिन्दु हैं मिथिला की भौगोलिक बनावट, आर्थिक स्थिति, सामाजिक स्वरूप और दार्शनिक विचार।

सबसे पहले मिथिला के भूगोल, मिट्टी तथा मिट्टी के गुण-अवगुण पर विचार करेंगे। उसके बाद पानी पर बसे मिथिला के जीवन पर। भौगोलिक दृष्टि से हम मिथिलावासी गंगा-ब्रह्मपुत्र के मैदान के बीच रहते हैं। हमारी उत्तरी सीमा पहाड़ों से घिरी है, जो पूरब से पश्चिम तक लगभग तीन हजार किलोमीटर में फैली हुई है। वैसे देश के नाम पर बीच में नेपाल भी है। लेकिन नेपाल ऐसा देश है जहाँ जाने के लिए न पासपोर्ट की आवश्यकता है और न रुपये के चलन में कोई बाधा। दोनों देशों की सीमा के आसपास रहने वाले लोगों के बीच वैवाहिक और पारिवारिक सम्बन्ध भी हमेशा से बनते आए हैं और आज भी बने हुए हैं।

आज भी फिल्म-जगत से जुड़े उदित नारायण गायक के रूप में प्रमुख हैं। उनका घर नेपाल की सीमा में है और ननिहाल हमारे यहाँ, अर्थात बिहार के सुपौल जिले में है। उनका जन्म भी सुपौल में हुआ। इसी प्रकार धीरेन्द्र 'प्रेमर्षि' हैं, जो कान्तिपुर एफ.एम. में कार्यरत हैं। वे गायक भी हैं और गीतकार भी। हमारे देश के लोगों के खेत-पथार नेपाल में हैं और नेपाल के लोगों के भी इधर हैं। विराटनगर के कोइराला परिवार, जिनमें नेपाल के प्रधानमंत्री भी हुए, उनका सम्बन्ध भी इस क्षेत्र से रहा है। मैथिली क्षेत्र के अररिया जिलावासी फणीश्वरनाथ 'रेणु', जिनका 'मैला आँचल' हिन्दी का प्रसिद्ध उपन्यास है, उनकी कथा पर राजकपूर की फिल्म 'तीसरी कसम' भी बनी। वैसे मिथिलांचल के

साहित्य-प्रेमियों की चर्चा करने लगूँ तो एक घंटे का समय केवल नाम लेने में ही बीत जाएगा, इसलिए फिलहाल इतना ही। जिन ऋषि-मुनियों की चर्चा हम केवल कथा-कहानी के रूप में सुनते हैं, बात उतनी ही नहीं है। उनके जीवन में मनुष्य के जीवन को बेहतर बनाने की दिशा भी है। मिथिला-दर्शन की चर्चा के समय इस पर बात करूँगा।

गंगा-ब्रह्मपुत्र के मैदान के बीच बसी मिथिला की भूमि सैकड़ों प्रकार की मिट्टियों से सजी है। इनमें अत्यन्त मूल्यवान मिट्टी भी है और लकड़ी के कोयले की राख जैसी लगभग निष्फल मिट्टी भी। कहने का अर्थ यह कि कुछ भूमि इतनी उर्वर है कि बीज पड़ते ही फसल आग की तरह धधक उठती है और कुछ भूमि ऐसी बंजर तथा ऊसर है जहाँ उपज के नाम पर ऊस-सज्जी के साथ केवल कुश ही उगती है। लेकिन वह कुश ही क्यों न हो, उसमें भी ऐसा गुण है कि बैठने के आसन से लेकर पितरों और ब्रह्मा, विष्णु, महेश के पूजा-अनुष्ठान तक में उसकी भागीदारी बनी रहती है।

मिथिला की भूमि का सम्बन्ध उत्तर में हिमालय से है। हिमालय से उपजाऊ मिट्टी बाढ़ के माध्यम से पाँक के रूप में यहाँ फैलती है और खेतों को उर्वर बनाती है। साथ ही बंगाल की खाड़ी से उठने वाले बादल मानसून भी बनाते हैं। वैसे मानसून के निर्माण में सूर्य की गति मुख्य है, क्योंकि जब सूर्य उत्तरायण होकर साढ़े तेईस डिग्री अक्षांश की कर्क रेखा पर आता है तब हमारे यहाँ बैसाख-जेठ की गर्मी होती है। और जब सूर्य दक्षिणायन होकर साढ़े तेईस डिग्री अक्षांश की मकर रेखा पर बाइस दिसम्बर को पहुँचता है, तब हमारे यहाँ जाड़े का मौसम होता है।

पूरब में अररिया जिले की परमान नदी से लेकर मोतिहारी, अर्थात पूर्वी चम्पारण की गण्डक नदी के बीच पचास से अधिक छोटी-बड़ी धाराएँ और नदियाँ हैं। वे मिथिलांचल के उत्तर से प्रवेश करती हैं और गंगा तक बहती हैं। मोटे तौर पर इन धाराओं को तीन रूपों में देखा जा सकता है। पहली वे जो बारहों महीने बहती हैं, दूसरी छह महीने बहने

वाली और तीसरी केवल बरसाती। अच्छी वर्षा हुई तो ठीक से बहेंगी और यदि सूखा पड़ा तो सूखी ही रह जाएँगी।

साल भर बहने वाली धाराएँ भी दो प्रकार की हैं। एक शान्त रूप से बहने वाली और दूसरी उग्र, अशान्त और उपद्रवी। कोसी और कमला जिस प्रकार उपद्रवी हैं, बागमती उसी प्रकार अपेक्षाकृत शान्त है और एक ही स्थान से वर्षों से बहती रही है। दरभंगा का सी.एम. कॉलेज बागमती के एक किनारे पर है और छात्रावास दूसरे किनारे पर। नदी में रस्सी से बँधी नाव के सहारे इस पार से उस पार जाया जाता है। यही कॉलेज और छात्रावास यदि कमला या कोसी के किनारे होते तो क्या उनका वही रूप रह पाता जो आज सी.एम. कॉलेज का है?

मिथिलांचल में अतिवृष्टि, जलप्लावन और सूखे से जो क्षति हमेशा होती रही है, उससे बचने के विचार से भोगेन्द्रजी के नेतृत्व में कम्युनिस्ट पार्टी का आन्दोलन शुरू हुआ और तेजी से बढ़ा। हजारों आन्दोलनकारियों ने जेल भोगी, मार खाई और अपने परिवार तक उजड़ने दिए कि कोसी में नहर बने, जिससे बाँधे गए पानी से समुचित सिंचाई हो और नूनथर-शीशापानी तथा बराहक्षेत्र में बाँध बनाकर पनबिजली पैदा की जाए, जिससे मिथिलावासियों को उद्योग के क्षेत्र में आगे बढ़ने का अवसर मिले। सत्तर-अस्सी वर्ष पुराने उस जन-आन्दोलन से जनता को क्या मिला, यह सबके सामने है। जो मिला वह बीते दिनों की बात हुई। आज हम जुलाई 2020 में, अर्थात इक्कीसवीं शताब्दी के बीसवें वर्ष में एकत्र हैं और अपने को बौद्धिक रूप से हर तरह से सम्पन्न मानते हैं। ऐसे में मिथिलांचल का जीवन आज कैसा है, इस पर विचार हमें ही करना होगा। अब मिथिलांचल की आर्थिक स्थिति पर विचार करें। वैसे भौगोलिक जानकारी की बहुत-सी बातें अभी बाकी हैं, लेकिन निर्धारित समय में सब कुछ सम्भव भी कैसे हो सकता है?

आर्थिक रूप से मिथिला का जीवन कृषि-आधारित रहा है। आज

के परिवेश में कुछ परिवर्तन अवश्य दिखाई देता है, लेकिन हमारे पूर्वजों की जो धारणा रही है, वह इतनी गहराई से विश्वास में बसी हुई है कि आज भी कण्ठ-कण्ठ में 'उत्तम खेती' की बात व्याप्त है। खेती को जीवन की सबसे उच्च श्रेणी की वृत्ति माना जाता रहा है।

जीवन की मुख्य आवश्यकताओं की पूर्ति हमारे पूर्वज खेती से ही करते आए हैं। अब खेत, खेती और खेतिहर के बीच की समस्याओं पर विचार करें। पहले खेत, अर्थात जमीन की स्थिति देखें। मोटे तौर पर हमारे यहाँ ग्यारहवीं शताब्दी से जमींदारी प्रथा चलती रही है। इसके विस्तृत रूप की चर्चा समय के कारण सम्भव नहीं, इसलिए केवल मुख्य बात रखूँगा।

किसी गाँव में गाँववासी रहते हैं, लेकिन गाँव की मूल सम्पत्ति, अर्थात खेत पर सभी का अधिकार नहीं होता। घर होने के कारण गाँव अपना है, लेकिन गाँव की उपार्जन करने वाली सम्पत्ति अपनी नहीं। जब सरकार में प्रत्येक परिवार को पाँच कट्ठा जमीन देने की सामर्थ्य नहीं है, तब हम लोगों की बात ही क्या। वैसे भी दिन भर साग-सब्जी जुटाने में ही दम निकल जाता है।

देश की आजादी के आन्दोलन ने 1930 के दशक के उत्तरार्ध में एक कदम और आगे बढ़ाया। 1939 ई. के त्रिपुरी अधिवेशन के लिए हुए कांग्रेस अध्यक्षीय चुनाव में गाँधीजी के समर्थित उम्मीदवार पट्टाभि सीतारमैया हार गए और सुभाषचन्द्र बोस जीत गए। इसका अर्थ हुआ कि रूढ़िवादी नेतृत्व के विरुद्ध प्रगतिशील विचार का प्रभाव बढ़ा। इसके साथ बकास्त जमीन का आन्दोलन भी जुड़ा और जमीन का संघर्ष शुरू हुआ। बाद में यह बेलगान, सिकमी और बटाई से बढ़ते हुए हदबन्दी कानून तक पहुँचा। अर्थात एक परिवार के पास सिंचित भूमि बीस बीघा और असिंचित भूमि तीस बीघा से अधिक नहीं रह सकती थी। लेकिन आज भी गाँवों की जमीन का क्या स्वरूप है, वह सबके सामने है और विचारणीय है।

बीते जीवन से आगे बढ़कर आज हम क्या देख रहे हैं? उदाहरण के लिए बेटे-बेटी के विवाह में दान-दहेज, जिसे पुराने मिथिला में कभी पाप माना जाता था, आज वह धर्म बनकर समाज में हँसता हुआ चल रहा है। निर्लज्ज होकर पिता कहता है कि ग्यारह लाख ही मिले, जबकि लड़का तो करोड़ का है। यही है मैथिल समाज का हार्दिक प्रेम, जहाँ विचार को घर की पिछली सीक पर रखकर ताजा दही मटकूर में डाल दिया जाता है।

भाइयो-बन्धुओ, विचार थोड़ा दूसरी ओर चला गया। जमीन की कुछ बात हुई, लेकिन आजादी के बाद विनोबाजी ने जो भूदान आन्दोलन शुरू किया और देश के जमींदारों ने जो जमीन देश को दान में दे दी, उस दान की जमीन की क्या स्थिति है, इसे बम्बई या दिल्ली में रहने वाला व्यक्ति भी तब समझता है जब पाँच गज जमीन घर बनाने के लिए खरीदने जाता है।

आर्थिक स्थिति से सम्बन्धित और भी बहुत-सी बातें हैं, जैसे जलप्लावन और सूखे का प्रकोप। दोनों के तीन-तीन रूप हैं और तीनों की क्षति अलग-अलग है। पहला कम सूखा या कम जलप्लावन, दूसरा आंशिक अथवा मध्यम, यानी आधा-अधूरा, और तीसरा पूर्ण। जलप्लावन और सूखे के दंश की तरह नदियों से होने वाला कटाव और गाँव के गाँव उजड़ जाना भी समस्या है। अच्छी-से-अच्छी उपजाऊ जमीन बालू से भरकर मृतप्राय हो गई है। खैर, जो है सो है। हाथ-पैर का प्राण निकल जाए तो निकल जाए, कण्ठ में तो अभी प्राण बचा है। इतना तो विचार कर ही सकते हैं कि मिथिलांचल का जीवन आगे कैसे बढ़े।

मध्ययुग में तुलसी बाबा ने 'कवितावली' के उत्तरकाण्ड में अपने समाज का चित्र इस प्रकार दिखाया है, "खेती न किसान को, भिखारी को न भीख, बनिक को बनिज न चाकर को चाकरी...।" स्थिति ऐसी थी कि एक-दूसरे से पूछते थे, अब कहाँ जाएँ और क्या करें।

यह पाँच-छह सौ वर्ष पहले के समाज का चित्र है। खैर, वह उस समय की बात है जब मुसलमानी शासन था। लेकिन अब हम स्वतंत्र देश के नागरिक हैं, इसलिए हमें स्वतंत्र ढंग से विचार करने का अधिकार मिल चुका है।

आज के परिवेश में गाँव-गाँव में एक नई समस्या भी विकराल रूप में खड़ी हो गई है। गाँवों में बने बाँध और सड़कों में दूरदर्शिता के अभाव के कारण पानी का निकास अवरुद्ध हो गया है। यह स्थिति केवल एक गाँव या एक जिले में नहीं, पूरे मिथिलांचल में बनी हुई है। गाँव-गाँव के लोग इस समस्या को देख भी रहे हैं और भुगत भी रहे हैं। एक तो मिथिलांचल वैसे ही नदी-धाराओं से आक्रान्त है, ऊपर से लगभग एक-तिहाई जमीन चौर-चाँचर है, जिसकी उपज का कोई भरोसा नहीं।

अब सामाजिक स्थिति पर विमर्श करें। अब तक मनुष्य के विकास की जो प्रक्रिया रही है, उसमें कोई अगड़ा है और कोई पिछड़ा। लेकिन उस विस्तार में न जाकर केवल दो बिन्दुओं पर विचार करें। पहला, गाँव में बनी जाति-व्यवस्था और दूसरा, धर्म-व्यवस्था।

असंख्य जातियों को मोटे तौर पर तीन श्रेणियों में बाँटकर आगे बढ़ते हैं। पहली, उच्च कोटि की जातियाँ, जो शिक्षा और आर्थिक दृष्टि से अपेक्षाकृत सम्पन्न हैं। लेकिन ऐसा नहीं कि इस वर्ग के भीतर कोई भेद नहीं है। इस वर्ग में भी शिक्षा और सम्पत्ति की दृष्टि से बहुत से लोग पिछड़े हैं।

दूसरी श्रेणी में अनेक जातियों का विशाल समूह है, जिन्हें अछूत तो नहीं माना जाता, लेकिन जीवन-स्तर की दृष्टि से वे पिछड़े हैं। तीसरी श्रेणी में वे जातियाँ हैं जिन्हें अछूत-अछोप माना जाता है। गरीबी ने उनके जीवन को इस प्रकार तोड़ा है कि आजादी के सत्तर-बाहत्तर वर्ष बाद भी अनेक स्थानों तक विद्यालय का दीपक नहीं पहुँच सका है। आर्थिक दृष्टि से भी स्थिति लगभग ऐसी ही है।

भाइयो, समय निर्धारित है और कहने के लिए बहुत कुछ है।

इसलिए तीन बिन्दुओं पर दृष्टि डालते हुए आगे बढ़ते हैं:

मैनजनी पद्धति, अर्थात जातिगत समाज के संचालन की पद्धति।

धार्मिक पद्धति और एक जाति से दूसरी जाति के बीच धार्मिक सम्बन्ध।

एक जाति से दूसरी जाति के बीच आर्थिक-सामाजिक सम्बन्ध।

मैनजनी पद्धति को दो दृष्टियों से देखता हूँ। पहली वैचारिक, अर्थात नैतिक दृष्टि से और दूसरी समाज में प्रचलित व्यवस्था की दृष्टि से। निश्चित व्यवस्था के बिना समाज में अराजकता की स्थिति बनने की सम्भावना रहती है। लेकिन मैनजनी व्यवस्था जब जाति-जाति के बीच शासन-पद्धति का रूप ले लेती है, तब अनेक सामाजिक रोगों और विकृतियों को भी जन्म देती है।

दूसरी है धार्मिक पद्धति। हिन्दू के नाम पर कुछ देवी-देवता सर्वमान्य हैं, लेकिन इनके अतिरिक्त विभिन्न जातियों के अपने-अपने देवी-देवता भी हैं। दूसरी जाति के लोग उन्हें कहीं थोड़ा-बहुत मानते हैं, कहीं नहीं मानते और कहीं उनका विरोध भी करते हैं। इसका प्रभाव इतना गहरा है कि देवी-देवताओं के चढ़ावे और प्रसाद तक छुआछूत के भेद से मुक्त नहीं रह पाते।

अब एक जाति से दूसरी जाति के बीच आर्थिक सम्बन्ध की ओर चलें। सभी गाँवों की बनावट जातियों के हिसाब से और रकबे, अर्थात जमीन-जायदाद की दृष्टि से समान नहीं है। इसलिए हर समाज में एक ही तरह की व्यवस्था नहीं रही। मोटे तौर पर अन्न के लेन-देन में सवाई ब्याज की प्रथा थी, अर्थात एक मन पर एक धारा सवाई, कुल धन का चौथाई। किसी गाँव में दो धारा, अर्थात डेढ़ा ब्याज की प्रथा थी। रुपये के लेन-देन में भी गाँव और जाति के अनुसार दो पैसे से लेकर चार आने, अर्थात चौथाई तक ब्याज लिया जाता था। इसी तरह एक गाँव से दूसरे गाँव के बीच और भी अनेक विसंगतियाँ रही हैं। उस विस्तार में अभी

नहीं जाएँगे। अब दर्शन की ओर चलें।

दर्शन का मूल अर्थ है देखना। देखने के लिए दुनिया बहुत बड़ी है और उसमें बहुत कुछ है। इसलिए अभी उस ओर अधिक दृष्टिपात करना सम्भव नहीं। संक्षेप में इतना कहूँगा कि मिथिला का दर्शन वह है जिसमें वस्तु से लेकर भाव, अर्थात विचार तक को निचोड़ते-निचोड़ते उसी प्रकार उच्च कोटि तक पहुँचा दिया गया, जैसे तिलकोर के पत्ते को, जिसकी गिनती सामान्य साग में भी नहीं होती और जिसका फल कड़वा होता है, भले पकने पर तोते चोंच मार-मारकर खाएँ, एक विशिष्ट भोज्य-वस्तु बना दिया गया। यह ऐसे ही थोड़े हो गया।

एक कट्ठा खेत के सहारे अयाची मिश्र जीवन भर ज्ञान-दान करते रहे। वह अगड़ी दृष्टि थी, कोई अनहोनी थी या कोई वरदान? आज इतना ही। समय मिला तो विस्तार से विमर्श करेंगे।

अब अपनी साहित्य-सेवा की बात। वैसे सेवा भी अनेक प्रकार की होती है, जैसे समाज-सेवा, साहित्य-सेवा आदि। बीसवीं शताब्दी बीतने के बाद मैंने लिखना शुरू किया। पहली किस्त की पुस्तकें 2009 ई. में गजेन्द्रजी, नागेन्द्र बाबू और नूतन झाजी के सहयोग से प्रकाशित हुईं। पुस्तकों की क्या गति होती है, यह रचनाकार जानते हैं। परसों ही 'सुचिता' नामक एक उपन्यास पूरा हुआ। अब तक लगभग सात सौ कथाएँ लिख चुका हूँ। इसके साथ उपन्यास, कविताएँ, गीत, नाटक और एकांकियाँ भी हैं। नमस्कार! ❑

भाई राजनन्दन लाल दासजी की जीवन-यात्रा

भाई राजनन्दन लाल दासजी का जन्म दरभंगा जिले के गोनौन गाँव में 5 जनवरी 1934 ई. को स्वर्गीय मनीलाल दास के परिवार में हुआ। उनकी माता स्वर्गीय विद्या देवी थीं। यह भी कहा जा सकता है कि राजनन्दनजी का जन्म भूकम्प वाले वर्ष में हुआ था।

गोनौन गाँव को जाने बिना राजनन्दनजी को जानना कुछ अधूरा ही रहेगा। इसलिए नई पीढ़ी के जिज्ञासु लोगों का ध्यान पहले दरभंगा जिले की भौगोलिक बनावट की ओर दिलाना चाहता हूँ। वैसे दो बातें पहले ही कह दूँ। पहली, 1972 ई. से पहले का दरभंगा जिला विभाजित होकर समस्तीपुर, मधुबनी और दरभंगा जिलों में बँटा। दूसरी, 1960 ई. से पहले के गाँव और उसके बाद के गाँवों के स्वरूप में बड़ा अन्तर आया।

दरभंगा जिले के अन्तर्गत दर्जनों नदियाँ बहती हैं। मधुबनी, जो आज अलग जिला है, वहाँ दो दर्जन से अधिक छोटी-बड़ी नदियाँ हैं। सीतामढ़ी, जो तब मुजफ्फरपुर जिले का हिस्सा था, से पश्चिम की ओर चम्पारण जिले के पूर्वी भाग, अर्थात मोतिहारी तक नेपाल के पहाड़ों से निकलने वाली नदियाँ घूमती-फिरती दरभंगा जिले में आती रही हैं। हम लोग यह भी मानते हैं कि मोतिहारी तक मैथिलीभाषी क्षेत्र है।

1960 ई. से पहले के गाँव और उसके बाद के गाँवों के बीच बहुत बड़ा अन्तर आ गया। साठ के दशक के बाद जब कोसी और कमला में

बाँध तथा तटबन्ध बने, तभी से गाँवों का स्वरूप बिगड़ने लगा और धीरे-धीरे उनकी रूपरेखा ही बदल गई। हमारी भूमि, जिसे 'गंगा-ब्रह्मपुत्र मैदान' कहा जाता है, उसका ढाल उत्तर से दक्षिण की ओर है।

1960 ई. से पहले जिस प्रकार अन्य गाँव सुन्दर थे, उसी प्रकार गोनौन भी एक सुन्दर गाँव था। सुन्दर गाँव का अर्थ था पेड़-पौधों, बगीचों और नदी-नालों से सम्पन्न गाँव। बाढ़ का प्रकोप यदि होता भी था तो उसकी आयु मानो ढाई दिन की ही होती थी। अर्थात कितनी भी बड़ी बाढ़ क्यों न आए, ढाई दिन के बाद पानी उतरने लगता था। इससे नुकसान भी अपेक्षाकृत कम होता था।

जिस प्रकार हमारे यहाँ गरीबी सदैव रही, उसी प्रकार जनसंख्या-वृद्धि की गति भी तेज रही है और आज भी है। गरीबी के कारण हमारे यहाँ के लोग, अर्थात छपरा-सिवान तक के लोग, नेपाल से लेकर आसाम और बंगाल तक काम करने तब भी जाते थे और आज भी जाते हैं।

गाँव से मैट्रिक पास करने के बाद 1949 ई. में राजनन्दन लाल दासजी भी कलकत्ता चले गए। उस समय का कलकत्ता आज कोलकाता कहलाता है। उन्होंने कलकत्ता विश्वविद्यालय से 1960 ई. में राजनीति शास्त्र में एम.ए. किया। बाद में निजी कम्पनियों में मार्केटिंग के क्षेत्र में सत्ताईस वर्षों तक नौकरी की।

कॉलेज-जीवन से ही राजनन्दन लाल दासजी सामाजिक और साहित्यिक संस्थाओं से जुड़कर निरन्तर सक्रिय रहे। आरम्भ में, अर्थात हाई स्कूल के दिनों में, उन पर समाजवादी पार्टी के नेता जयप्रकाश बाबू, सूरज बाबू आदि का प्रभाव पड़ा था। इससे वे समाजवादी पार्टी के समर्थक बने और उसके लिए काम भी करने लगे। 1952 ई. के चुनाव में जयप्रकाश बाबू की हार का राजनन्दन लाल दासजी के मन पर गहरा प्रभाव पड़ा।

कलकत्ता प्रवास के दौरान वे भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी से प्रभावित हुए और 1967 ई. तक लाल कार्डधारी सदस्य रहे।

एम.ए. करने के बाद जीविकोपार्जन के लिए भाई राजनन्दनजी ने सेल्स मैनेजमेंट और मार्केटिंग रिसर्च का प्रशिक्षण लिया। बाद में उन्होंने अनेक कम्पनियों में काम किया, जिसके कारण भारत के विभिन्न भागों के साथ नेपाल का भी व्यापक भ्रमण किया।

कोलकाता ऐसा महानगर है जहाँ दुनिया के अनेक देशों और भाषाओं के लोग रहते हैं। वह साहित्य और संस्कृति का भी एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र है। विश्वभारती जैसी संस्था तपस्वी मनीषी रवीन्द्रनाथ ठाकुर द्वारा स्थापित है। हिन्दी के महान समीक्षक और उपन्यासकार डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी जैसे सर्जक ने भी बंगाल में रहकर सृजन किया।

मिथिला की भी एक-से-एक महान विभूतियों और मनीषियों ने बंगाल की धरती पर साधना की है। उसका प्रभाव मैथिली भाषा और साहित्य पर भी पड़ा। विश्व में सबसे पहले, अर्थात 1919 ई. में, मैथिली भाषा-साहित्य का स्नातकोत्तर स्तर, यानी एम.ए. का अध्यापन कलकत्ता विश्वविद्यालय में आरम्भ हुआ।

विद्याप्रेमी राजनन्दन लालजी को वहाँ अनेक मातृभाषा-प्रेमी लोगों का साहचर्य मिला। वे बाबू साहेब चौधरी और सत्यनारायण दास के दाहिने हाथ माने जाते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि छात्रावस्था में ही कविवर सीताराम झा (1891-1965) की सुप्रसिद्ध पंक्ति, 'पढ़ि-लिखि जे ने बजैछ हो निज मातृभाषा मैथिली, मन होइछ झिटुकीसँ तेकर हम कान दुनू ऐँठि ली।' से वे अत्यन्त प्रभावित हुए और उनके हृदय में मातृभाषा के प्रति अनुराग का फूल धीरे-धीरे खिलता गया।

नौकरी के आरम्भिक दिनों से ही जब वे कहीं बाहर जाते, अपना काम पूरा करने के बाद अपने देश-प्रदेश के लोगों की खोज-खबर लेते। इससे मणिपुर से लेकर कश्मीर तक कहीं-न-कहीं अपने गाँव-घर और अपनी बोली-बानी से जुड़े लोग मिल ही जाते थे। बोली-बानी चाहे जिस रूप में मिले, एक मैथिल जीवन अवश्य मिल जाता था। इससे मिथिला और मैथिली भाषा-साहित्य के प्रति उनका अनुराग बढ़ता गया।

पण्डित देवनारायण झा और कामरेड पीताम्बर पाठक के सम्पर्क

में आने के फलस्वरूप 1958 ई. में मिथिला सांस्कृतिक सम्मेलन में राजनन्दन लाल दासजी ने पूरी सक्रियता दिखाई।

1942 ई. के 'भारत छोड़ो आन्दोलन' के समय, जब भाई राजनन्दन पाँचवीं कक्षा के छात्र थे और पंडौल मिडिल स्कूल में पढ़ते थे, तभी से उन्होंने एक बाल स्वतंत्रता सेनानी के रूप में काम करना शुरू कर दिया था। छात्रावस्था से ही वे विभिन्न राजनीतिक दलों से बहुत प्रभावित थे। कोलकाता प्रवास के दौरान वामपंथी राजनीति से प्रभावित होकर वे भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की राजनीति में सक्रिय हुए और उसकी विविध गतिविधियों में भाग लेने लगे। इसके साथ उनमें एक और बड़ी विशेषता थी कि वे अपना शान्तिपूर्ण पारिवारिक जीवन भी निभाते रहे। यातना और संघर्ष से भरी पूर्वजों की जीवन-यात्रा उनके लिए संजीवनी बनी रही।

मिथिला और मैथिली के विकास के लिए राजनन्दन लाल दास निरन्तर कार्यरत रहे। सबसे पहले उन्होंने 'मिथिला दर्शन' मैथिली पत्रिका के प्रकाशन में भरपूर सहयोग देना शुरू किया। इस पत्रिका के स्वामी और सम्पादक स्वर्गीय प्रबोध नारायण सिंह (1924-2005) थे। बाद में 'मिथिला दर्शन प्राइवेट लिमिटेड कम्पनी' की स्थापना हुई। उसके चेयरमैन स्वर्गीय प्रबोध नारायण सिंह, मैनेजिंग डायरेक्टर उदित नारायण झा और कम्पनी सेक्रेटरी राजनन्दन लाल दास बने। आपसी विवाद के कारण कुछ समय बाद पत्रिका बन्द हो गई।

संघ के विवाद से आहत होकर 1966 ई. में उन्होंने 'ऑल इंडिया मैथिल संघ' नामक एक नई संस्था की स्थापना की। उसके अध्यक्ष महावीर झा और सचिव राजनन्दन लाल दास बने। उनके हृदय में अपनी भाषा और साहित्य के प्रति अनुराग की धारा प्रबल रूप से बहती रही। अग्निजीवी पत्रिका 'आखर' का प्रवेशांक उन्होंने 1967 ई. की दीपावली के अवसर पर प्रकाशित किया। कुछ अंक प्रकाशित होने के बाद आपसी विवाद के कारण यह पत्रिका भी बन्द हो गई।

पत्रिका बन्द होने के बाद राजनन्दनजी का भाषानुरागी मन बेचैन

हो उठा। उसी समय 'कर्णगोष्ठी' नामक एक सामाजिक और साहित्यिक संस्था की स्थापना 1963 ई. में हुई थी। इसकी स्थापना के समय से ही राजनन्दन लाल दास ने उसका सक्रिय विरोध किया था। उनका मानना था कि इससे जातिवादी मानसिकता को बढ़ावा मिलेगा। गोष्ठी की पहली स्मारिका 1974 ई. में प्रकाशित हुई। उसमें राजनन्दन लाल दास ने कर्ण-कायस्थों की वैवाहिक समस्या पर एक प्रभावशाली लेख लिखा, जो उसी पत्रिका में प्रकाशित और सुरक्षित है। वैचारिक मतभेद चलते रहे। कुछ वर्षों बाद वे कर्णगोष्ठी से सम्बद्ध हुए और 1981 ई. में 'कर्णामृत' पत्रिका का शुभारम्भ हुआ। उसके प्रधान सम्पादक अर्जुनलाल करण और सहयोगी सम्पादक राजनन्दन लाल दास बने।

मार्केटिंग के कार्य से जुड़े होने के कारण राजनन्दन लाल दास नेपाल से लेकर भारत के अनेक भागों का भ्रमण करते रहते थे। इससे 'कर्णामृत' पत्रिका के प्रचार-प्रसार में भी विशेष सहायता मिली। पत्रिका के आजीवन ग्राहकों की संख्या तीन सौ से अधिक हो गई, जिससे उसकी आर्थिक स्थिति भी बेहतर हुई। मिथिला और मैथिली का दुर्भाग्य रहा है कि आर्थिक अभाव के कारण कितनी ही अच्छी रचनाएँ और कितनी ही अच्छी पत्रिकाएँ असमय काल-कवलित हो गईं।

पत्रिका के साथ-साथ साहित्यिक जनजागरण को ध्यान में रखते हुए राजनन्दन लाल दासजी ने अनेक साहित्यिक पुस्तकें भी प्रकाशित कीं। इनमें उपन्यास, कथा, कविता, नाटक, लोकगाथा, संस्मरण और समालोचना आदि विभिन्न विधाओं की पुस्तकें थीं। 'अर्द्धनारीश्वर' (1981), 'साहित्यरत्नाकर मुंशी रघुनन्दन दास : व्यक्तित्व ओ कृतित्व' (1983), 'नागभूमि' (1985), 'तेसर कनियाँ' (1986), 'मैथिलीक दधीचि बाबू भोला लाल दास' (1991), 'अनंग कुसमा' (1999), 'नाट्यरूप फुटपाथ' (2001), 'उत्तर जनपद' (2003), 'आदिम गुलाम' एवं 'कनकी' (2003), 'मणिकण' (2003), 'हुनकासँ भेँट भेल छल' (2004), 'प्रपाणिका' (2005), 'भारतीक बिलाड़ि' (2005), 'मैथिली लोक गाथाक इतिहास' (2005), 'जिजीविषा' (2005), 'अग्नि शिखा'

(2005), 'चित्रा-विचित्रा' (2005), 'खोहक अन्हार' (2005) तथा मणिपद्म (ब्रज किशोर वर्मा) जी की चुनी हुई कहानियाँ (2005) आदि महत्त्वपूर्ण पुस्तकें हैं। जीवन की अन्तिम सीमा तक राजनन्दन लाल दास भाषा-साहित्य के लिए स्वयं को समर्पित किए रहे।

राजनन्दन भाई की स्मरणशक्ति अद्भुत थी। बोलते समय वे ऐसे सूत्रवाक्य कह देते थे जिनका श्रोताओं पर गहरा प्रभाव पड़ता था। उनकी बोलने की शैली ऐसी थी कि मुहावरे, कहावतें और गाँव की बोली अपने-आप उनके कथन में उतर आती थीं। इससे श्रोताओं का आकर्षण और बढ़ जाता था। कैसी भी परिस्थिति उनके सामने आए, वे कभी विवेकहीन नहीं होते थे। समाज और साहित्य के प्रति उनका समर्पण ऐसा था कि मन से समर्पण का भाव और विचार कभी हटता ही नहीं था।

राजनन्दन लाल दास ने जीवन का बड़ा हिस्सा मिथिला से बाहर बिताया, लेकिन कोलकाता में रहते हुए जिस प्रकार मैथिली की सेवा की, उसे कभी भुलाया नहीं जा सकता। भाषा-साहित्य के प्रति उनमें अगाध प्रेम था और जीवन-जगत के गम्भीर अनुभव भरे हुए थे। कोलकाता प्रवास के दौरान उनकी भाषा-शैली और दृष्टि का समुचित विकास हुआ। राजनन्दन लाल दास केवल योजनाएँ बनाने वाले व्यक्ति नहीं थे, वे इस बात को लेकर भी निरन्तर चिन्तित रहते थे कि उन योजनाओं को धरातल पर उतारकर क्रियान्वित कैसे किया जाए। सीमित साधनों के बीच किसी सांगठनिक दायित्व को कैसे निभाया जाए, इसका उन्हें विशेष अनुभव था।

राजनन्दन लाल दासजी की सक्रिय सहभागिता के फलस्वरूप 1967 ई. में 'मैथिली संग्राम समिति' का गठन हुआ। उसके अध्यक्ष उदित नारायण झा और मंत्री राजनन्दन लाल दास बने। मैथिली संग्राम समिति ने मैथिली की मान्यता से सम्बन्धित विभिन्न माँगों को लेकर केन्द्र और बिहार सरकार के मंत्रियों का कई बार घेराव किया और स्मारपत्र

दिए।

1981 ई. से, अर्थात 'कर्णामृत' पत्रिका के आरम्भ से लेकर जीवन के अन्तिम समय तक राजनन्दन लाल दास ने अपने मानवीय दायित्व का निर्वहन किया।

पत्रिका के साथ-साथ मेधावी और निर्धन छात्रों के लिए 'योगेन्द्र स्मृति छात्रवृत्ति कोष', प्रतिभाशाली रचनात्मक मैथिली लेखन के लिए 'श्रीमती सीतावती स्मृति मैथिली संवर्द्धन कोष' तथा उत्कृष्ट कला के प्रोत्साहन के लिए 'श्रीमती रासोदेवी स्मृति कला संवर्द्धन कोष' आदि की स्थापना में भी उन्होंने भरपूर सहयोग दिया।

1985 ई. से राजनन्दन भाई ने 'कर्णामृत' पत्रिका में शारदीय अंक की परम्परा को विस्तार दिया। इसके माध्यम से प्रमुख रचनाकारों पर विशेष शारदीय अंक निकालने शुरू किए गए। इसके अन्तर्गत (1) राधाकृष्ण चौधरी स्मृति अंक (1986), (2) मणिपद्म श्रद्धांजलि अंक (1986), (3) किरण स्मृति अंक (1989), (4) मिथिला विभूति अंक (1992), (5) जगदीपनारायण चौधरी दीपक स्मृति अंक (1993), (6) श्रीकान्त मण्डल स्मृति अंक (1994), (7) आरसी प्रसाद सिंह स्मृति अंक (1997), (8) प्रभास कुमार चौधरी स्मृति अंक (1998), (9) वैद्यनाथ मिश्र 'यात्री' स्मृति अंक (1999), (10) मणिपद्म स्मृति अंक (2000), (11) महाकवि लाल दास स्मृति अंक (2001) आदि अनेक विशेषांक निरन्तर प्रकाशित किए गए।

श्रद्धापूर्वक भाई राजनन्दन लाल दासजी के समर्पण, साहस, निर्भीकता, संघर्षशीलता और कठिन परिस्थितियों में भी अपने कार्य में निरन्तर लगे रहने की प्रवृत्ति का आदर करते हुए आशा करता हूँ कि 'कर्णामृत' पत्रिका को आगे भी इसी स्तर का समर्पित सम्पादक मिलता रहेगा। ❑

‘विदेह ई-पत्रिका’ के सम्पादक श्री गजेन्द्र ठाकुरजी के प्रश्नों के उत्तर

गजेन्द्र ठाकुर: विदेह सम्मान के लिए आपको बहुत-बहुत बधाई...

ज.प्र.मं.: भटके-बिसरे रचनाकारों की खोज-खबर लेने के लिए विदेह परिवार को धन्यवाद।

गजेन्द्र ठाकुर: आपकी दृष्टि में साहित्य का उद्देश्य क्या है?

ज.प्र.मं.: अधिकांश विद्वानों के विचार से साहित्य समाज का दर्पण है। जिस दर्पण से हम देखते हैं, वह किसी वस्तु का केवल बाहरी रूप दिखाता है। लेकिन शरीर के भीतर जो मन, बुद्धि, विवेक और आत्मा है, उसे वह नहीं दिखाता। साहित्य मनुष्य द्वारा निर्मित होता है, इसलिए वह बाहर और भीतर, दोनों को मिलाकर दिखाता है। साहित्य जीवन-दर्शन है, जो अतीत को भविष्य से जोड़ता है। इसलिए साहित्य का उद्देश्य महान है। वह मनुष्य और मनुष्य के बीच, व्यक्ति और समाज के बीच प्रेमपूर्वक जीने की दिशा देता है। यही दिशा-निर्देश साहित्य का उद्देश्य है।

गजेन्द्र ठाकुर: आपके साहित्य में इतिहास और संस्कृति, विशेष रूप से मिथिला का, किस प्रकार वर्णित होता है?

ज.प्र.मं.: अपना मिथिलांचल हमेशा से कृषि-प्रधान रहा है। वैसे इतिहास के पन्नों में कृषि-युग से पहले शिकारी युग और जंगली अवस्था की भी चर्चा है। वह केवल इतिहास में ही नहीं, वास्तव में जीवन की अवस्था भी रही है। राजा होते हुए भी जनक ने हल चलाया, जो कृषि के महत्त्व को दर्शाता है। प्रारम्भ से ही मिथिलांचल पर बाहरी संस्कृतियों का आक्रमण होता रहा है, जिससे यहाँ की अपनी संस्कृति टूटती-झुकती और विकृत होती रही। फिर भी वह किसी-न-किसी रूप में जीवित रही है। मैं उस किसानी संस्कृति को अपनी संस्कृति मानकर चलता हूँ, जो कल्याणकारी होने के साथ-साथ प्रेम और भाईचारे को मजबूत करने में भी सहायक है।

गजेन्द्र ठाकुर: दिन-प्रतिदिन के अनुभवों का आपके साहित्य में किस प्रकार विवेचन होता है?

ज.प्र.मं.: दुनिया का प्रत्येक व्यक्ति अपने बीतते जीवन के साथ परिवार, समाज और देश-दुनिया का अनुभव करता आया है। जिस प्रकार दुनिया गतिशील है, उसी प्रकार जीवन भी। लेकिन सभी की आयु और देखने की दृष्टि समान नहीं होती, इसलिए अनुभव भी अलग-अलग होते हैं। जैसा देखने वाला, वैसा ही दृश्य। मनुष्य अपने दैनिक क्रिया-कलापों के माध्यम से जीवन की सच्चाई तक पहुँचना चाहता है। सृजनकर्ता जितनी ईमानदारी से उस सच्चाई को अपनी रचना में उतार पाता है, उसकी रचना के कालजयी होने की सम्भावना उतनी ही बढ़ती है।

यही प्रयास सभी करते हैं, मैं भी कर रहा हूँ।

गजेन्द्र ठाकुर: साहित्य की शक्ति के विषय में आपका क्या कहना है?

ज.प्र.मं.: कहा भी जाता है कि संगठन ही शक्ति है। जिस प्रकार व्यक्तियों का संगठन परिवार है, उसी प्रकार परिवारों का संगठन समाज है। उसी समाज का दर्पण साहित्य है। जैसा समाज होगा, उसका साहित्य भी वैसा ही शक्तिशाली होगा।

गजेन्द्र ठाकुर: आपके साहित्य में पाप-पुण्य का विश्लेषण किस प्रकार होता है?

ज.प्र.मं.: पाप-पुण्य धर्म से जुड़ा है। लेकिन आज तक का सामाजिक इतिहास विकृत होते-होते इतना विकृत हो गया कि इसका स्वरूप ही चौपट हो गया। मूलतः जैसा व्यासजी ने कहा है कि परोपकार धर्म है और परपीड़ा पाप। मैं इसे केवल विचार नहीं, जीवन मानकर चलता हूँ।

गजेन्द्र ठाकुर: कल्पना और यथार्थ का समन्वय आप अपने साहित्य में किस प्रकार करते हैं?

ज.प्र.मं.: वैसे साहित्य में अनेक धाराएँ चल रही हैं, लेकिन मूल रूप से मैं उन्हें तीन धाराओं में रखकर देखता हूँ। पहली यथार्थ, दूसरी कल्पना और तीसरी दोनों का समन्वय। मेरी दृष्टि में कल्पना यदि यथार्थ से कट जाए तो साहित्य जीवन से दूर हो सकता है और

यथार्थ यदि कल्पना का सहारा न पाए तो उसकी प्रस्तुति कई बार सपाट हो जाती है। इसलिए अपनी रचनाओं में जीवन की देखी-भोगी सच्चाई को आधार बनाते हुए कल्पना के माध्यम से उसके व्यापक अर्थ तक पहुँचने का प्रयास करता हूँ। वैदिक युग की विचारधारा सामन्ती युग तक आते-आते बहुत बदल गई। साहित्य समाज से कटकर राजदरबार के इर्द-गिर्द चक्कर लगाने लगा, जिससे वह जन-गण से दूर होकर भोग-विलास की वस्तु बनने की स्थिति में भी पहुँचा। मेरा विचार है कि साहित्य जन-गण और सत्ता, दोनों के बीच रहते हुए जीवन की व्यापक सच्चाई को पकड़े। इस धरती पर सभी को जीने का अधिकार है। इसलिए मेरा हमेशा प्रयास रहा है कि शोषित, पीड़ित और वंचित लोगों का हाथ पकड़कर उन्हें खड़ा करूँ।

गजेन्द्र ठाकुर: आपके साहित्य में पात्र जीवन्त हो उठते हैं, इसका क्या रहस्य है?

ज.प्र.मं.: किसी समस्या अथवा घटना के प्रति हमेशा यह कोशिश रहती है कि उसे निष्पक्ष होकर देखूँ भी और उसके निराकरण का प्रयास भी करूँ। सम्भव है, इसी कारण पात्रों में जीवन्तता आ जाती हो।

गजेन्द्र ठाकुर: साहित्य-लेखन, विशेषकर मैथिली साहित्य-लेखन, आपके लिए किस प्रकार विशिष्ट है और इसकी प्राथमिकता को आप किस रूप में देखते हैं?

ज.प्र.मं.: साहित्य समाज का ऐसा दर्पण है जिसमें भूत, वर्तमान और भविष्य का दर्शन होता है। दुर्भाग्य यह

रहा कि मैथिली साहित्य सिमटकर एकांगी हो गया। समाज के कुछ हिस्सों की चर्चा आवश्यकता से अधिक हुई, जिससे साहित्य हास-परिहास के बीच उलझकर रह गया, जबकि समाज का अधिकांश हिस्सा कटकर किनारे हो गया। अपनी रचनाओं में मेरा हमेशा प्रयास रहता है कि उस छूटे हुए समाज को पकड़कर सृजन करूँ।

गजेन्द्र ठाकुर: क्या आप किसी तथ्य के ढँके हुए अथवा ओझल पक्ष को सामने लाते हैं? यदि हाँ, तो कैसे और यदि नहीं, तो क्यों?

ज.प्र.मं.: जहाँ तक ढँके हुए तथ्यों का प्रश्न है, उनका भी अनेक प्रकार का स्वरूप होता है। शब्दों से विचार ढँका जा सकता है, वस्त्र से शरीर और मिट्टी से गड्ढा। मिथिलांचल के समाज में भी अनेक ऐसे तथ्य हैं जो आँखों के सामने रहते हुए भी ओझल हैं, क्योंकि देखने वालों की दृष्टि उस ओर कम गई। किसी चीज को देखने से पहले उसका बोध मन में पैदा होता है। आँख तो मन का माध्यम मात्र है। लेकिन यदि मन ही उस ओर न जाए तो तथ्य आँखों के सामने रहकर भी अनदेखा रह जाता है। मैं ऐसे ही ओझल तथ्यों को पहचानने और रचना के माध्यम से सामने लाने का प्रयास करता हूँ।

गजेन्द्र ठाकुर: आपने लेखन कब प्रारम्भ किया, किसके लिए लिखा और आजकल किसके लिए लिख रहे हैं?

ज.प्र.मं.: मोटे तौर पर दो हजार ईस्वी के बाद ही लिखना शुरू किया। वैसे मैं हिन्दी साहित्य का विद्यार्थी हूँ, इसलिए

मेरे लिए हिन्दी में लिखना सुविधाजनक होता। लेकिन मैथिली का सम्बन्ध परिवार से समाज तक तब भी था और आज भी है। साथ ही एक बात और है कि जो विचार मैं मैथिली में गहराई से व्यक्त कर सकता हूँ, वह हिन्दी में नहीं कर पाता। जहाँ तक यह प्रश्न है कि किसके लिए लिखता हूँ, तो स्पष्ट रूप से कह रहा हूँ कि समाज का दबा-कुचला और वंचित वर्ग मेरा मुख्य आधार है। उसी के लिए लिखा है और आगे भी जो कुछ लिखूँगा, उसी के लिए लिखूँगा।

गजेन्द्र ठाकुर: क्या आपको कभी ऐसा लगा कि आपको मुख्यधारा से हाशिये पर कर दिया गया है? आपकी रचनाओं में समाज को बाहर से देखने की प्रवृत्ति का क्या कारण है?

ज.प्र.मं.: सम्पादकजी, आपने मुख्यधारा से हाशिये पर किए जाने का प्रश्न उठाया है, तो स्पष्ट रूप से कहना चाहता हूँ कि जिस प्रकार किसी नदी में वर्षा का पानी आकर मिलता रहता है, उससे नदी में उफान आता है और उसकी धारा भी तेज होती जाती है। लेकिन मैं अपने को उससे अलग मानता हूँ। कम शक्ति के कारण कोई धारा भले ही कमजोर हो, लेकिन दृढ़ विश्वास है कि दो-तीन-चार धाराएँ बढ़ते-बढ़ते एक दिन मुख्यधारा बन जाएँगी। इसलिए मैं अपने को हाशिये पर किया गया व्यक्ति नहीं, बल्कि एक नई धारा को गति देने वाला मानता हूँ। यह विचारधारा का प्रश्न है, हाशिये पर होने का नहीं।

गजेन्द्र ठाकुर: क्या अपने साहित्य और रचनाओं में स्वयं को पूर्णतः ईमानदार रखना आवश्यक है?

ज.प्र.मं.: जहाँ तक रचना में ईमानदारी का प्रश्न है, उसका महत्त्व केवल रचना में ही नहीं, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में है और रहेगा। रचनाकार को न्यायमूर्ति की तरह होना चाहिए। वैसे यह प्रश्न बहुत गम्भीर है। मुँह से सभी अपने को ईमानदार कहते हैं, लेकिन कर्मक्षेत्र और बौद्धिक क्षेत्र में वे कितने ईमानदार हैं, यह उनके व्यवहार में स्पष्ट दिखाई देता है। इसलिए इस पर अधिक कहना उचित नहीं।

गजेन्द्र ठाकुर: आज के समय में मैथिली साहित्य की स्थिति क्या साहित्यकारों के सामूहिक दोष की स्वीकृति के रूप में नहीं देखी जानी चाहिए?

ज.प्र.मं.: हमारे यहाँ, अर्थात मिथिलांचल में, नैतिकता केवल भाषण बनकर रह गई है। व्यावहारिक रूप में वह कहीं विशेष दिखाई नहीं देती। इसका कारण है कि नैतिकता की मनगढ़न्त व्याख्या आज से नहीं, बहुत पहले से होती आ रही है। इसलिए इसे केवल सामूहिक दोष कैसे कहा जाए? जब तक मनुष्य अपना निर्माण स्वयं नहीं करेगा, तब तक रटी-रटाई बातें दोहराने से क्या होगा? वैसे दोषों में भी एकरूपता नहीं है। तरह-तरह के दोष फैले हुए हैं। एक ही व्यक्ति एक जगह ईमानदार है और दूसरी जगह बेईमान।

इस प्रश्न का समाधान सरल नहीं है। फिर भी यदि खुलकर वाद-विवाद हो तो इसमें कुछ हद तक कमी आ सकती है।

गजेन्द्र ठाकुर: क्या आपको लगता है कि आपकी पुस्तकों का हिन्दी, बंगला, नेपाली, अंग्रेजी आदि भाषाओं में अनुवाद किया जाएगा? उस स्थिति में वहाँ उनका किस रूप में स्वागत होगा? क्या आपका साहित्य उन भाषाओं और संस्कृतियों के लिए उतना ही महत्त्वपूर्ण रहेगा जितना मैथिली भाषा और संस्कृति के लिए है? आपका लेखन भाषा और संस्कृति से निरपेक्ष क्यों नहीं हो सका?

ज.प्र.मं.: जहाँ तक दूसरी भाषाओं में अनुवाद का प्रश्न है, किसी भी भाषा का साहित्य किसी सीमित क्षेत्र के लिए नहीं, पूरे विश्व के लिए होता है। भाषा का अपना क्षेत्र होता है। दुनिया में बोलियों और भाषाओं को मिलाकर सत्ताईस सौ से अधिक भाषिक रूप हैं। किसी क्षेत्र अथवा भाषा का साहित्यकार किसी विशेष क्षेत्र में जन्म लेता है। वहाँ की मिट्टी-पानी की सुगन्ध को जिस रूप में वह अनुभव करता है, दूर-दराज के क्षेत्र को उसी तरह अनुभव नहीं कर सकता। इसीलिए एक भाषा से दूसरी भाषा में अनुवाद होता है।

कोई साहित्य तभी समृद्ध होता है जब वह अपने क्षेत्र से आगे बढ़कर दुनिया के साहित्य को अपने भीतर समाहित करता है। एक भाषा के साहित्य का दूसरी भाषा में अनुवाद केवल भाषा-परिवर्तन नहीं होता, वह उस समाज का सामाजिक, आर्थिक और बौद्धिक विश्लेषण भी उपलब्ध कराता है। इसलिए किसी भाषा का साहित्य केवल उसी क्षेत्र की सम्पत्ति नहीं रह जाता, बल्कि दुनिया की सम्पत्ति बन जाता

है।

गजेन्द्र ठाकुर: आपकी भाषा तो मैथिली है, लेकिन आपके लेखन पर बाहरी भाषाओं, संस्कृतियों और विचारधाराओं का प्रभाव भी कहीं-कहीं स्पष्ट दिखाई देता है, फिर भी अधिक नहीं। इसका क्या कारण है?

ज.प्र.मं.: हम देखते ही हैं कि मिथिलांचल में भी बचपन से स्कूल-कॉलेज की पढ़ाई में हिन्दी और अंग्रेजी भाषाएँ शामिल रहती हैं। हिन्दी तो अपनी राष्ट्रभाषा है, इसलिए उसका प्रभाव स्वाभाविक है। लेकिन अंग्रेजी का क्या? जब अंग्रेजी साहित्य पढ़ते हैं तो केवल अंग्रेजी भाषा ही नहीं, अंग्रेजी साहित्यकारों की कथा, उपन्यास, कविता और नाटक भी पढ़ते हैं। इससे बचपन से ही मन-मस्तिष्क में अंग्रेजी भाषा और संस्कृति अपना स्थान बनाने लगती है। आगे चलकर जब कुछ लिखना चाहते हैं तो वे सब सिनेमा की रील की तरह मस्तिष्क में घूमने लगते हैं।

साहित्य-सृजन की अवस्था कुछ भिन्न होती है। जिस समय सृजनकर्ता का मस्तिष्क किसी भावभूमि में विचरण करने लगता है, वहाँ भाषा गौण हो जाती है। लाख परहेज करने के बाद भी उलट-पुलटकर किसी-न-किसी रूप में दूसरी भाषा और संस्कृति का मेल हो ही जाता है।

जहाँ तक विचारधारा का प्रश्न है, उन्नीसवीं शताब्दी में मार्क्सवादी विचारधारा दुनिया के कोने-कोने में फैल गई। कहीं-कहीं शासन-सत्ता भी बदली। लेकिन हमारी जो भारतीय चिन्तनधारा रही है, वह भी मानव-कल्याण की चिन्तनधारा है। मार्क्सवादी

चिन्तनधारा और भारतीय चिन्तनधारा की पद्धति में कुछ भिन्नता होते हुए भी उनके लक्ष्य में निकटता है। दोनों मानव-कल्याण की दिशा दिखाती हैं। इसलिए दोनों के बीच तालमेल होना स्वाभाविक है।

गजेन्द्र ठाकुर: इस पुरस्कार के बाद आपकी रचनाओं का बहुत अधिक प्रचार हुआ है। इससे आपको कैसा अनुभव हो रहा है?

ज.प्र.मं.: प्रचार कम हो या अधिक, मूल प्रश्न यह है कि मेरी रचनाओं से कितने लोगों को जीवन की दिशा मिली। जो व्यक्ति उसे अपने जीवन में उतारकर लाभ उठाता है, वही वास्तविक उपलब्धि है। जितने अधिक लोगों तक यह पहुँच सकेगा, उतना ही अपने सृजन को सार्थक समझकर मुझे सन्तोष होगा।

गजेन्द्र ठाकुर: आपकी कौन-सी रचना, विशेष रूप से कौन-सी कथा, मैं पहले पढ़ूँ? अर्थात आपकी अपनी कौन-सी रचना आपको सबसे अधिक प्रिय है?

ज.प्र.मं.: इस प्रश्न का उत्तर दो प्रकार से दूँगा। पहला, मैंने जिस क्रम में रचनाएँ की हैं, वे आपके सामने हैं। मैं कहूँगा कि उसी क्रम में उसे देखिए। दूसरा, मैं उस अभिभावक की तरह का रचनाकार हूँ जिसका एक बेटा आई.ए.एस. हो और दूसरा लँगड़ा-लूला। जिस प्रकार वह दोनों को समान दृष्टि से देखता है, उसी प्रकार मैं भी अपनी सभी रचनाओं को देखता हूँ। इसलिए कौन अच्छी है और कौन खराब, यह कहना मेरे लिए कठिन है। ❑ (साक्षात्कार : 2011)

‘विदेह ई-पत्रिका’ के सहायक सम्पादक श्री मनोज कुमार कर्ण ‘मुन्नाजी’ के प्रश्नों के उत्तर

मुन्नाजी: जगदीशबाबू, शिक्षा की पूरी डिग्री प्राप्त करने के बावजूद आपने इतनी देर से मैथिली में लेखन क्यों शुरू किया?

ज.प्र.मं.: मुन्नाजी, आपके प्रश्न का उत्तर देने से पहले अपनी कुछ बातें कह दूँ। केजरीवाल हायर सेकेंडरी स्कूल, झंझारपुर में स्पेशल नाइन्थ से स्पेशल इलेवन तक मैंने सौ अंकों के एक विषय के रूप में मैथिली पढ़ी थी, लेकिन कॉलेज में मैथिली नहीं पढ़ी। वहाँ हिन्दी पढ़ी। साहित्य से प्रेम हमेशा रहा। लेखन की ओर लगभग 2000 ई. के बाद ही बढ़ा। यहाँ केवल इतना कहूँगा कि जमीनी संघर्ष के बाद जब वैचारिक संघर्ष जोर पकड़ता है, तब लिखना अनिवार्य हो जाता है। इससे जीवन में और मजबूती आई। मेरा मानना है कि हर मनुष्य को जीवन की शुरुआत अपने आसपास से करनी चाहिए। मेरा कर्मक्षेत्र अपना गाँव रहा, जहाँ की भाषा मैथिली है। इसलिए हिन्दी का विद्यार्थी होते हुए भी मैथिली में लिखता हूँ।

देर से लिखने का एक कारण यह भी रहा कि 1967 ई. में, जब बी.ए. का विद्यार्थी था, वामपंथी राजनीति से जुड़ गया। काम से जो समय बचता, वह सामाजिक

सेवा में लगने लगा। बी.ए. तक जनता कॉलेज, झंझारपुर में और आगे सी.एम. कॉलेज, दरभंगा में पढ़ा। लिखने का एक कारण यह भी है कि उम्र बढ़ने के साथ शरीर की शक्ति कम होने लगी।

मुन्नाजी: दो विषयों से एम.ए. जैसी उच्च शिक्षा के बाद आपके समय में नौकरी मिलना बहुत कठिन नहीं रहा होगा। नौकरी न करके खेती-बाड़ी करने का निर्णय किस मानसिकता का द्योतक था?

ज.प्र.मं.: आज की दृष्टि से जरूर लगता होगा कि उस समय नौकरी आसानी से मिल जाती थी, लेकिन बात ऐसी नहीं थी। इस सन्दर्भ में कुछ कहना चाहूँगा। तब झारखंड सहित पूरा बिहार एक ही राज्य था। आज विभाजित बिहार में जितने जिले, अनुमण्डल और ब्लॉक हैं, उतने उस समय पूरे बिहार में नहीं थे। काम के क्षेत्र भी आज जितने विविध हैं, तब नहीं थे। आज विभाजित बिहार में छत्तीस-सैंतीस जिले हैं, जबकि उस समय केवल सत्रह जिले थे। आज मधुबनी में पाँच अनुमण्डल हैं, तब मधुबनी स्वयं एक अनुमण्डल था। शिक्षा विभाग की स्थिति भी ऐसी ही थी। गिने-चुने कॉलेज और हाई स्कूल थे। आज के मधुबनी क्षेत्र में झंझारपुर, सरसो, पण्डौल और बाबूबरही में चार कॉलेज खुले। बाबूबरही का जे.एन. कॉलेज बाद में मधुबनी चला गया। उससे पहले आर.के. कॉलेज और सम्भवतः एक और कॉलेज था। बाकी सब बाद के हैं। जब जनता कॉलेज, झंझारपुर खुला, तब आधे से अधिक शिक्षक दूसरे जिलों के थे। इसका अर्थ यह नहीं कि इस क्षेत्र में पढ़े-लिखे लोग नहीं थे।

आज जितनी बैंक शाखाएँ दिखाई देती हैं, तब उतनी नहीं थीं। सम्भवतः मधुबनी में एक शाखा थी, बाकी लगभग नहीं के बराबर। ब्लॉकों की स्थिति भी ऐसी ही थी। संख्या कम थी और एक बी.डी.ओ. होता था, जबकि आज बी.डी.ओ., सी.ओ. और पी.ओ. तीन पद हैं। कल-कारखानों के नाम पर लोहट की एक चीनी मिल और गिने-चुने चावल मिल थे। और भी बहुत-सी बातें हैं, लेकिन मोटे तौर पर इतना ही। अब आप ही बताइए कि नौकरी कहाँ थी? उस अनुपात में आज अवसर अधिक हैं।

जहाँ तक खेती करने का कारण है, जब मैं केवल तीन वर्ष का था, पिता का निधन हो गया। मुझसे तीन वर्ष बड़े एक भाई थे। परिवार में दो फुफेरे भाई भी रहते थे। उनका घर फुलपरास विधानसभा क्षेत्र के घोघरडीहा ब्लॉक की अमही पंचायत के हरिनाही गाँव में था। जब कोसी ने पश्चिम की ओर जोर किया तो उनका गाँव उजड़ गया और सभी लोग बेरमा आ गए। यह घटना 1935-40 के बीच की है। बाद में जब कोसी पूरब की ओर खिसकी, तब 1960 ई. में वे दोनों भाई वापस चले गए। उनके चले जाने के बाद गृहस्थी सँभालने के साथ पढ़ाई भी करनी पड़ी। तभी से खेती से जुड़ाव हो गया और वही जीविका का साधन भी रहा।

मुन्नाजी: प्रारम्भ में आप स्वयं को साम्यवादी कहते हुए सामन्तवाद के विरुद्ध आन्दोलन, संघर्ष और टकराव में सक्रिय रहे। बाद में उससे विमुख क्यों हुए? उससे आपको क्या लाभ या हानि हुई?

ज.प्र.मं.: जैसा था, वैसा ही हूँ। लेकिन परिस्थितियों को समझकर देखना पड़ता है। सामन्तवादी व्यवस्था में मनुष्य की जो मानसिक बनावट होती है, सामन्तवाद पर चोट पड़ने के बाद वह भी बदलती है। कहानी और नाटक का मंच सामाजिक विकास और वास्तविक सामाजिक जीवन नहीं होता। नाटक के मंच पर तीन घंटे में राम का जन्म हो जाता है, जनकपुर में धनुषयज्ञ हो जाता है, वन में सीता का हरण होता है और रावण की मृत्यु के बाद नाटक समाप्त हो जाता है। कथा-कहानी में भी ऐसा ही होता है। लेकिन समाज का मंच बहुत जटिल होता है। वहाँ समय भी लगता है, संघर्ष भी होता है और उससे भी अधिक जबरदस्त वैचारिक संघर्ष चलता है।

संक्षेप में कहूँ तो आर्थिक विकास के क्रम में जब खेती के लिए नई, उन्नत किस्म के बीज आए, तब सामन्ती सोच वाले लोगों ने उनका विरोध किया। उनके तर्क थे, पहला, उससे उपज में स्वाद नहीं होगा; दूसरा, पर्व-त्योहार की दृष्टि से वह अशुद्ध होगी; तीसरा, खाद देने से स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ेगा और बीमारियाँ बढ़ेंगी। इसी प्रकार दरभंगा अस्पताल खुलने पर भी विरोध हुआ। गाँव-घर में एलोपैथी का विरोध किया गया। कहा गया कि इंजेक्शन गाय के खून से और दवाएँ सूअर के मांस से बनती हैं। साधारण कुएँ की जगह जब चापाकल आया तो उसका भी विरोध हुआ। कहा गया कि चापाकल का वाशर चमड़े का होता है, इसलिए उसके पानी से पूजा कैसे होगी और लोग ऐसा अशुद्ध पानी कैसे पीएँगे? कितनी बातें

गिनाऊँ। ऐसी परिस्थितियों को संक्रमण काल कहा जाता है। सामन्तवाद टूटने के बाद पूँजीवादी और समाजवादी दिशाएँ सामने आती हैं।

हमारे गाँव की लगभग नब्बे प्रतिशत जमीन बाहर रहने वाले मालिकों की थी। चार जमींदार थे। जनवादी संघर्ष शुरू होते ही दो मालिकों ने अपनी जमीन बेच दी। एक जमींदार के साथ बहुत तीखा संघर्ष हुआ। जमींदारों के साथ सूदखोर महाजन भी थे, उनसे भी लड़ाई हुई। आज न कोई बाहरी जमींदार है और न महाजन। गाँव में किसी के पास बहुत अधिक जमीन भी नहीं है। अधिकतम लगभग दस बीघा, बाकी उससे नीचे। इस दौर में करीब तीस वर्षों तक गाँव में संघर्ष चलता रहा। सत्तर-इकहत्तर में उठा तूफान शान्त होते-होते 5 मई 2005 को अन्तिम मुकदमे के समाप्त होने के साथ खत्म हुआ।

विकास की भी अपनी प्रक्रिया होती है। आज की विशाल और तेज मशीनें तथा कम्प्यूटर देखकर नई पीढ़ी को सहज विश्वास नहीं होगा कि कभी काम हाथ से होता था। हाथ से चलने वाले औजार धीरे-धीरे छोटी मशीनों में बदले और वही छोटी मशीनें परिमार्जित होते-होते आज विशाल तथा तीव्र मशीनों के रूप में हमारे सामने हैं।

मुन्नाजी: किसी ने कहा कि आपकी साम्यवादी विद्रोही छवि उस समय दब गई जब आपने सामन्तों द्वारा दिए गए प्रलोभन स्वीकार कर लिए। क्या यह सत्य है?

ज.प्र.मं.: मुन्नाजी, चौथे प्रश्न का उत्तर पिछले उत्तर में मिल गया होगा। यदि नहीं मिला तो फिर अनुमान का तीर

चलाना होगा।

मुन्नाजी: उग्रवादी प्रवृत्ति से रचनात्मक प्रवृत्ति की ओर आपका झुकाव कैसे हुआ? क्या कोई विशेष घटना थी जिसने आपकी रचनात्मक सोच को प्रेरित किया?

ज.प्र.मं.: पाँचवें प्रश्न का उत्तर भी पहले ही आ गया है। दुनिया के इतिहास में जिसे शीतयुद्ध, यानी 'कोल्ड वार' कहा गया, वह मूलतः वैचारिक संघर्ष था। ऐसे संघर्ष में साहित्य एक प्रमुख अस्त्र है।

मुन्नाजी: मैथिली रचनाकारों में यह प्रवृत्ति दिखाई देती है कि एक-दो रचनाएँ लिखकर वे स्वयं को मैथिली की साहित्यिक धारा से जोड़ने में लग जाते हैं, लेकिन आप इसके उलट लगातार चिन्तन और लेखन करते हुए भी लगभग छिपे रहे। ऐसा क्यों?

ज.प्र.मं.: छठे प्रश्न के सम्बन्ध में मेरी समझ स्पष्ट है। जिस प्रकार उत्तर के पहाड़ों से निकलने वाली छोटी-छोटी धाराएँ दक्षिण की ओर बहती हुई नदी-नालों से मिलती हैं, फिर गंगा तक पहुँचकर समुद्र में समा जाती हैं, उसी प्रकार यदि साहित्य और रचना की दशा-दिशा ठीक होगी तो साहित्य की धारा स्वयं बनेगी। मुझे इस पर विश्वास है। दूसरे लोगों की तरह मैंने आरम्भ से ही रचना की ओर कदम नहीं बढ़ाया, उसका कारण पहले बता चुका हूँ।

मुन्नाजी: वियोगीजी ने आपकी पुस्तक की भूमिका में लिखा है कि बीस कथाओं और पाँच उपन्यासों की पाण्डुलिपियाँ लेकर उनसे मिलने के क्रम में आपकी दृष्टि स्पष्ट हुई और दो वर्ष बाद हुई अगली भेंट में उसमें

और परिवर्तन दिखाई दिया। इस पर आपका क्या विचार है?

ज.प्र.मं.: मैथिली साहित्य-जगत में वियोगीजी पहले साहित्यकार हैं जिनसे मेरी व्यक्तिगत भेंट हुई। वैसे एक-दो बार फोन पर बातचीत के बाद उमेश पटना गया था और उनसे मिला था। वह कुछ रचनाएँ भी लेकर गया था और दो-चार पन्ने पढ़कर सुनाए भी थे। लेकिन डेढ़-दो घंटे की बातचीत में परिचय की बातें ही अधिक हुईं।

वियोगीजी से मेरी पहली प्रत्यक्ष भेंट मधुबनी में हुई, जब वे वहाँ आए थे। उसी क्रम में उन्होंने रहुआ कथा-गोष्ठी की जानकारी दी और वहाँ चलने को भी कहा। उनके सम्पादन में 'देशज' पत्रिका का 2003 का अंक निर्मली की एक किताब की दुकान में मिला था। उसमें यात्रीजी और किरणजी के साथ बातचीत भी प्रकाशित थी। विचार की दृष्टि से यात्रीजी से मैं विद्यार्थी जीवन से ही प्रभावित था। वह पत्रिका मिलने के बाद उनसे और प्रभावित हुआ तथा वियोगीजी के प्रति आकर्षण भी बढ़ा।

इसी प्रकार किरणजी के जीवन से भी कॉलेज के दिनों से बहुत प्रभावित था। उन्हें निकट से देखा था। जब मैं सी.एम. कॉलेज में पढ़ता था, तब वे वहाँ प्रोफेसर थे। बातचीत के क्रम में उन्होंने कहा था कि "जिस तरह बोलते हो, उसी तरह लिखना मैथिली है।" उनका यह विचार केवल उस समय ही नहीं, आज भी मेरे रग-रग में समाया हुआ है।

मुन्नाजी: उसी भूमिका में उन्होंने लिखा है कि आप उनके ऐसे अन्धभक्त हैं कि उनकी पुस्तकें खोज-खोजकर पढ़ते थे और एक पुस्तक की तलाश में पटना तक गए। मैथिली साहित्य में पाठकों की कमी, विशेषकर पुस्तक खरीदकर पढ़ने वालों की कमी के बीच यदि यह सत्य है तो इसका क्या कारण है?

ज.प्र.मं.: इस प्रश्न का उत्तर भी पहले आ चुका है। इतना जरूर है कि उन्होंने मुझे खोज-खोजकर अनेक पुस्तकें दीं। 'भक्त' और 'भगवान' साम्प्रदायिक भाषा के शब्द हैं। कोई मनुष्य अपने कर्म से बड़ा या छोटा होता है। लेकिन किसी के बारे में पहले से बुरा सोचना और करना, इसे मैं गलत मानता हूँ।

मुन्नाजी: थोड़े ही समय में विभिन्न विधाओं की आपकी आठ पुस्तकें प्रकाशित हुईं। इससे आपको कैसी अनुभूति हुई? आगे का लक्ष्य क्या है?

ज.प्र.मं.: पुस्तकें प्रकाशित होने पर जैसी अनुभूति दूसरे रचनाकारों को होती होगी, वैसी ही मुझे भी हुई। जहाँ तक लक्ष्य का प्रश्न है, प्रसादजी की ये पंक्तियाँ याद आती हैं:

"जीवन का उद्देश्य नहीं है शान्त भवन में टिक जाना
और पहुँचना उन राहों पर जिनके आगे राह नहीं।"

मुन्नाजी: इतनी पुस्तकें प्रकाशित होने के बाद भी आपका ठोस मूल्यांकन नहीं हुआ और न पुरस्कार के लिए चयन हुआ। क्या इससे कभी अपना परिश्रम निरर्थक-सा

नहीं लगता?

ज.प्र.मं.: किसी रचना का मूल्यांकन समय करता है। रचना अपने समय के अनुकूल है या नहीं, इसका निर्णय भी समय ही कर सकता है। रही पुरस्कार की बात, प्रेमचन्द जैसे उपन्यास-सम्राट और कलम के जादूगर को कौन-सा बड़ा पुरस्कार मिला था? लेकिन उन्होंने अपने श्रम को कभी निरर्थक नहीं माना। अन्तिम साँस तक साहित्य की सेवा करते रहे।

अपने पचहत्तरवें जन्मदिन के अवसर पर नामवर भाई, अर्थात डॉ. नामवर सिंह, ने कहा था, "जितना काम अब तक किया है, उतना अगले पाँच वर्षों में करूँगा।" उनकी साहित्यिक सेवा कितनी है, यह सर्वविदित है। जब पचहत्तर वर्ष के व्यक्ति का ऐसा वक्तव्य हो सकता है, तब मैं तो अपने को अभी जवान ही समझता हूँ।

मुन्नाजी: मैथिली में प्रारम्भ से बनी जाति-पाँति की खाई को आप किस दृष्टि से देखते हैं और स्वयं को उसके बीच कहाँ पाते हैं?

ज.प्र.मं.: आरम्भ से ही मेरा विश्वास वर्ण में नहीं, वर्ग में रहा है। उसी आधार पर काम करता आया हूँ और आज भी कर रहा हूँ। समाज में जाति और धर्म, अर्थात सम्प्रदाय के नाम पर जो खेल चलता है, वह राजनीति करने वालों की चाल है।

मुन्नाजी: पिछड़े वर्ग से रचनात्मक रूप में आगे आने वाले लोगों को ऊपर उठाने में क्या आप सहयोगी बनना पसन्द

करेंगे? उनके लिए आपका कोई सन्देश?

ज.प्र.मं.: जहाँ व्यवस्था बदलने का प्रश्न है, वह न एक दिन में बदलेगी और न किसी एक व्यक्ति के बल पर। कल्याण सबका होना है और उसके लिए काम भी सभी को करना होगा। इसलिए मैं सबसे कहता हूँ, जागिए, उठकर खड़े होइए और आगे बढ़िए। मिथिला सबकी मातृभूमि है और मैथिली सबकी भाषा। उसे अपना समझकर उसकी सेवा में लग जाइए। ❑

'मिथिलांगन पत्रिका' के सम्पादक श्री मुकेश दत्तजी के प्रश्नों के उत्तर

मुकेश दत्त: अपने प्रारम्भिक जीवन के बारे में संक्षेप में बताइए।

ज.प्र.मं.: मेरा जन्म बेरमा गाँव में, मध्यवर्गीय जाति के एक मध्यवर्गीय परिवार में हुआ। यहाँ यह स्पष्ट कर दूँ कि हिन्दू समाज को मोटे तौर पर तीन रूपों में देखा जा सकता है, अगड़ा, पिछड़ा और बीच का। यही बीच वाला समूह मध्यवर्गीय जाति हुआ। दूसरी ओर आर्थिक दृष्टि से मध्यवर्गीय परिवार वह है जिसके पास अपना गुजारा करने लायक जमीन हो। वैसे बड़े किसान कहिए अथवा बड़े रैयत-जमींदार, उनकी एक अलग श्रेणी रही है। इसी प्रकार भूमिहीन और बिना बासभूमि वाले परिवारों की भी एक श्रेणी है। मेरा जन्म इन दोनों छोरों के बीच के परिवार में हुआ।

भाइयों में पिताजी अकेले थे, इसलिए परिवार छोटा और सिमटा हुआ था। माता-पिता की देखरेख में परिवार चलता था। मुझसे तीन वर्ष बड़े एक भाई थे, यानी हम दो भाई थे। जब मैं तीन वर्ष का था, तभी पिताजी का निधन हो गया। उसके बाद परिवार माँ की देखरेख में चला। बटाई पर जमीन लेकर लगभग एक हल की खेती होती थी। मजदूर और हलवाहे के सहारे खेती चलती थी। हमारे यहाँ दो फुफेरे भाई भी रहते थे। उनका गाँव कोसी के किनारे था और नदी

के कारण नष्ट हो गया था। वे दोनों भाई थोड़ा-बहुत खेती देखते और भैंस भी चराते थे। 1960 ई. में उनका गाँव 'हरिनाही' फिर से बसने योग्य हुआ तो वे वापस चले गए।

गाँव में लोअर प्राइमरी स्कूल था। वह मिट्टी की दीवारों वाला घर था, जो 1934 ई. के भूकम्प में गिर गया। गाँव के लोगों ने इसे अशुभ मानकर स्कूल की जगह बदल दी। दूसरी जगह स्कूल बना। पहले मेरे बड़े भाई का उसमें नामांकन हुआ और बाद में पाँच वर्ष की अवस्था से मैं भी उन्हीं के साथ स्कूल जाने लगा।

उस समय स्कूल दोनों पहर चलता था। एक शिक्षक थे, जिनका हमारे परिवार में भी काफी आना-जाना रहता था।

मुकेश दत्त: मैथिली साहित्य की ओर आपका झुकाव कैसे हुआ?

ज.प्र.मं.: बचपन से मनुष्य जिस प्रकार भाषा और साहित्य से जुड़ता जाता है, उसी प्रकार मैं भी जुड़ गया। कविता और कथा से विशेष रूप से प्रभावित हुआ। उस समय हाई स्कूल से ही आर्ट्स, साइंस और कॉमर्स की धाराएँ अलग हो जाती थीं। लगभग पन्द्रह से बीस प्रतिशत विद्यार्थी साइंस, पाँच से दस प्रतिशत कॉमर्स और बाकी आर्ट्स पढ़ते थे। मुझे भी विषयों की कोई विशेष समझ नहीं थी, लेकिन मन में एक इच्छा जग गई थी कि मैट्रिक पास करना है।

गाँव के लोअर प्राइमरी स्कूल से कछुबी अपर प्राइमरी स्कूल में नाम लिखवाया, फिर कछुबी के ही मिडिल

स्कूल में पढ़ा। मिडिल पास करने के बाद केजरीवाल हाई स्कूल, झंझारपुर में नामांकन कराया। हायर सेकेंडरी के बाद जनता कॉलेज में नाम लिखा। धीरे-धीरे विचार में भी परिवर्तन आया। अब मन में यह लक्ष्य बना कि एम.ए. पास करना है। तब तक गाँव के लगभग आठ लोग सामान्य कॉलेज से बी.ए. पास कर चुके थे, लेकिन किसी ने एम.ए. नहीं किया था। वैसे संस्कृत माध्यम से गाँव में एक-से-एक विद्वान थे। बेरमा गाँव के विद्वान दीपक संस्कृत महाविद्यालय, नवानी महाविद्यालय, लगमा महाविद्यालय सहित अनेक संस्थानों में सेवा दे चुके थे और आज भी कुछ लोग हैं।

जनता कॉलेज में हिन्दी ऑनर्स की पढ़ाई नहीं थी। मैं हिन्दी का विद्यार्थी था, इसलिए बाद में सी.एम. कॉलेज में नामांकन कराया और वहीं से एम.ए. किया। कॉलेज के दिनों में ही 1967 ई. में वामपंथी राजनीति, अर्थात कम्युनिस्ट पार्टी से जुड़ गया। एम.ए. पूरा करते-करते मन में यह निर्णय पक्का हो गया कि नौकरी नहीं करनी है। इसलिए जीवन में कभी नौकरी पाने का प्रयास भी नहीं किया।

मुकेश दत्त: पहली रचना की प्रेरणा कैसे मिली?

ज.प्र.मं.: बचपन से कविता और कथा पढ़ता रहा। अनेक कविताएँ कण्ठस्थ भी थीं। कभी-कभी स्वयं भी कविता-कथा लिखने की इच्छा होती और कुछ लिख भी लेता, लेकिन उनका कोई व्यवस्थित लेखा नहीं रहा। यह कहना उचित नहीं होगा कि किसी एक व्यक्ति से प्रभावित होकर अथवा किसी के संरक्षण में

मैंने लिखना शुरू किया।

कथा और उपन्यास लिखने के बाद भाई मन्त्रेश्वर झा, डॉ. तारानन्द वियोगी और डॉ. शिवशंकर श्रीनिवास को अपनी रचनाएँ दिखाईं। उन्होंने अपने-अपने विचार और सुझाव दिए। खुशी की बात यह है कि आज भी मन्त्रेश्वर भाई को अपनी रचनाएँ पढ़ाता हूँ और उनका विचार लेता हूँ। उन्होंने मुझे 'भाषा का बाजीगर' कहकर अपना मन्तव्य भी दिया।

वैसे राजनीतिक जीवन और अपने काम को लेकर मेरी सोच कुछ अपनी तरह की रही है। भोगेन्द्रजी 1967 ई. में पहली बार संसद पहुँचे। वे युवा थे और प्रभावशाली वक्ता भी। उनके प्रभाव से समाज में फैली अनेक विषमताओं में से प्रमुख विषमताओं को पकड़ते हुए जमींदारों के विरुद्ध बटाईदारी और सूदखोर महाजनों के विरुद्ध ऋण-मुक्ति का आन्दोलन गाँव में खड़ा हुआ।

गाँव के लोगों की स्थिति इतनी दयनीय हो गई थी कि विवाह-दान की बात तो दूर, लोग कर्ज लेकर अपना पेट पालते थे। गाँव में चार बाहरी जमींदार थे, जिनके पास गाँव की लगभग तीन-चौथाई, यानी पचहत्तर प्रतिशत जमीन थी। हमारा क्षेत्र बाढ़ और सूखे का क्षेत्र है ही। देश की स्थिति भी ऐसी थी कि स्वतंत्रता के बाद भी दूसरे देशों से अन्न मँगाना पड़ता था। 1974-75 के बाद अन्न-उत्पादन लगातार बढ़ने लगा और 1990 तक आते-आते गाँव का वातावरण शान्त हुआ। जमींदार गाँव से चले गए और पुरानी महाजनी व्यवस्था भी समाप्त हो गई। मधुबनी के

जिलाधिकारी नित्यानन्द सिंह स्वयं आकर ऋण-मुक्ति के प्रमाणपत्र बाँट गए। इससे वातावरण में परिवर्तन आया।

गाँव में लगभग पाँच दर्जन मुकदमे फैले हुए थे। धीरे-धीरे लोगों के मन में यह बात स्पष्ट होने लगी कि ये मुकदमे अनावश्यक रूप से गाँव पर लटके हुए हैं। लेकिन कोर्ट-कचहरी का चक्कर एक बार लग जाए तो उससे निकलने में समय लगता ही है। 2000 ई. तक आते-आते केवल एक मुकदमा बचा। धारा 436 का वह मुकदमा जमींदार की जमीन पर कब्जे के समय उठा था और लगभग पैंतीस वर्ष चला। वातावरण ऐसा बन चुका था कि उसका अन्त होना निश्चित था। कोर्ट-कचहरी की स्थिति भी यह थी कि कभी-कभी वर्षों तक अधिकारी ही नहीं रहते थे। खैर, जो हुआ सो हुआ। 2005 ई. में वह मुकदमा भी फास्ट ट्रैक कोर्ट से समाप्त हो गया। उस मुकदमे में हम अट्ठाईस लोग अभियुक्त थे।

2000 ई. तक आते-आते मेरे विचारों में भी बदलाव आया। वैसे आन्दोलन के बीच, सूदखोरी और बटाईदारी के संघर्ष के साथ-साथ समाज इस ओर भी बढ़ा कि गाँव की खेती कैसे विकसित हो। इससे उत्पादन में काफी वृद्धि हुई। फिर यह समझ में आया कि समाज की विचारधारा में परिवर्तन लाना है तो उसके लिए साहित्य की भी आवश्यकता है। इसलिए लिखना शुरू किया।

जीवन की पहली कथा 'भैंटक लाबा' से यह यात्रा शुरू हुई। बाद में 'गामक जिनगी' कथा-संग्रह 2009 ई. में

श्री गजेन्द्र ठाकुरजी के सहयोग से प्रकाशित हुआ। भाई डॉ. प्रेमशंकर सिंह, जो तिलका माँझी विश्वविद्यालय से प्रोफेसर के रूप में सेवानिवृत्त हो चुके थे, 'गामक जिनगी' हाथ में आते ही बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने उसकी समीक्षा लिखने की इच्छा भी व्यक्त की, लेकिन बीमारी के कारण हाथ काँपने लगा था, इसलिए लिखना कठिन हो गया और वे समीक्षा नहीं लिख सके।

मुकेश दत्त: आपने किन-किन विधाओं में लेखन किया है? आपको किस विधा में लिखना अच्छा लगता है? संक्षेप में बताइए।

ज.प्र.मं.: जिस विधा में काम ही शुरू नहीं किया, उसके बारे में अच्छा-बुरा क्या कहूँ? किसी विधा में प्रवेश करने के बाद ही उसमें रमने का अनुभव होता है। इसलिए उसे छोड़कर कहूँ तो कथा और उपन्यास दोनों साथ-साथ लिखना शुरू किया। कभी ऐसा भी होता कि एक दिन कथा लिखता और दूसरे दिन उपन्यास। यह क्रम आज भी बना हुआ है।

कुछ दिनों से कथा लिख रहा था। कबिलपुर में 'सगर राति दीप जरय' के मंच पर तीन कथा-संग्रहों का लोकार्पण हुआ और अगले कार्यक्रम के लिए तीन उपन्यास तैयार रखे हैं। इस बार की वर्षा और बाढ़ ने मन को इतना प्रभावित किया कि अभी बाढ़-वर्षा से सम्बन्धित कथा लिख रहा हूँ।

जीवन के आरम्भ में उपन्यास और कथा ने जिस तरह मुझे पकड़ लिया, आज भी उसी तरह पकड़े हुए हैं।

इसलिए कौन अच्छा और कौन बुरा, यह कैसे कहूँ? नाटक और एकांकी भी लिखे हैं। आज के मोबाइल युग में हमारे यहाँ का नाट्य-साहित्य मंचीय साहित्य बना रहेगा अथवा पाठ्य-साहित्य बन जाएगा, यह अपने-आप में प्रश्न है। इसलिए इस पर अभी कोई निश्चित विचार नहीं कहूँगा।

पाँच सौ से अधिक कविताएँ भी लिखी हैं, जो लगभग बारह संग्रहों में प्रकाशित हैं। कविता लिखना छोड़ा नहीं है, लेकिन नियमित रूप से नहीं लिखता। किसी कार्यक्रम में कविता-पाठ का अवसर मिलता है तो लिखता हूँ। कविता लिखने के बाद मन में कुछ असन्तोष होने लगता है। लगता है कि जो विचार रखना चाहता हूँ, उसे पूरी तरह नहीं रख पाता। एक ओर सीमित समय में पाठ करने की सीमा रहती है और दूसरी ओर छन्द-अलंकार का अपना क्षेत्र है। बिना छन्द-अलंकार के कविता कैसी होगी, यह प्रश्न भी मन में उठता रहता है। इसलिए कविता को लेकर यह असन्तोष बना रहता है कि जो कहना चाहता हूँ, उसे पूरा नहीं कह पाता।

मुकेश दत्त: मैथिली साहित्य में आप स्वयं को किनसे प्रेरित मानते हैं अथवा साहित्य में आपकी प्रेरणा का स्रोत कौन रहा है?

ज.प्र.मं.: सम्पादकजी, अपनी सीमा में आपका प्रश्न सही है, क्योंकि हम सामने देखते भी हैं और सुनते भी हैं। इसलिए अपनी जगह यह स्वाभाविक प्रश्न है। लेकिन अपनी बात कहने से पहले एक मूल प्रश्न है, 'प्रेरणा का

स्रोत कौन रहा?' फिलहाल उस विस्तार में न जाकर इतना ही कहूँगा कि मेरा अपना जीवन ही मेरे विचार और मेरे कार्य निर्धारित करता रहा और उसी से मेरा जीवन बना।

व्यक्तिगत रूप से किसी एक व्यक्ति को नहीं, बल्कि सामूहिक रूप से हजारों ऐसे लोग हैं जिनसे मुझे प्रेरणा मिली है। उनमें अनेक साहित्यकार भी हैं। यह अवश्य है कि किसी-न-किसी का विशेष प्रभाव पड़ा होगा। लेकिन यह मानसिक प्रक्रिया है कि किसकी भाषा, किसका भाव और किसकी रचना का कितना प्रभाव पड़ा।

जैसे तुलसी बाबा ने कहा है, "को बड़ छोट कहत अपराधू। सुनि गुन भेदु समुझिहहिं साधू॥" अर्थात कौन बड़ा और कौन छोटा है, इसका निर्णय करना सहज नहीं। उसी तरह मैं भी कहता हूँ कि मिथिला एक-से-एक पूजनीय महापुरुषों की धरती रही है। कामधेनु जैसी उर्वर शक्ति वाली यह भूमि न कभी बाँझ हुई है और न होगी। देश की यदि कोई समस्या है तो मिथिला की समस्या भी उनमें प्रमुख है। जहाँ हजारों वर्षों से चले आ रहे पारिवारिक और सामाजिक सम्बन्ध अचानक बिखरकर टूट रहे हैं, वहाँ अपनी अस्मिता बचाने का प्रश्न तो उठेगा ही।

मुकेश दत्त: आपकी रचनाएँ ग्रामीण परिवेश को समेटे वास्तविक जीवन के दृश्यों से भरी रहती हैं। इसका कारण?

ज.प्र.मं.: सम्पादकजी, मनुष्य अपना परिवेश स्वयं निर्मित करता है। अभी परिवेश की विस्तृत चर्चा नहीं

करूँगा। इतना ही कहूँगा कि अपने चौहत्तर-पचहत्तर वर्षों का जीवन गाँव में ही बीता है, इसलिए गाँव को निकट से देखने का अवसर मिला। बड़ी-से-बड़ी बाढ़, सूखा और भूकम्प देखा है। उनके परिणाम भी अपनी आँखों से देखे हैं। हम सभी जानते हैं कि अपनी आँखों से देखा हुआ सत्य सबसे अधिक अकाट्य होता है। तीनों, यानी बाढ़, सूखा और भूकम्प की चर्चा करने लगूँ तो उत्तर बहुत लम्बा हो जाएगा। इसलिए केवल भूकम्प की दो घटनाएँ कहता हूँ।

पहली घटना 1934 ई. के भूकम्प की है। झंझारपुर बाजार में जयदेव चौधरी का परिवार था। वे बनिया जाति के कारोबारी व्यक्ति थे। बीच बाजार में घर और दुकान थी। भूकम्प में घर-आँगन, दुकान और रहने का मकान सब गिर गया। ग्यारह लोगों के परिवार में नौ लोग मकान के नीचे दबकर मर गए। केवल उनकी एक मूक बहन और स्वयं जयदेव चौधरी बचे। मन पूरी तरह टूट गया। एक तो झंझारपुर बाजार तहस-नहस हो गया था, ऊपर से अपना परिवार भी नष्ट हो गया।

झंझारपुर से निकलकर जयदेव चौधरी मेरी नानी की छोटी बहन के यहाँ पहुँचे। यहाँ 'नानी के यहाँ' से मेरा आशय नानी की छोटी बहन के घर से है। मेरी नानी दो बहनें थीं और छोटी बहन का ससुराल बेरमा में था। परिवार सम्पन्न था। उनकी अपनी सन्तान नहीं थी, इसलिए धर्म-कर्म में विशेष रुचि थी। किस गाँव में किसका कैसा व्यवहार है, यह केवल उसी गाँव के लोग ही नहीं, आसपास के लोग भी जानते हैं। जयदेव चौधरी बेरमा आकर बस गए। उनका विवाह भी हुआ

और परिवार भी बना, लेकिन सन्तान न होने के कारण बाद में परिवार समाप्त हो गया।

दूसरी घटना 1988 ई. के नेपाल-बिहार भूकम्प की है। मेरे घर से लगभग दो बीघा की दूरी पर एक ब्राह्मण परिवार था। उसी परिवार के केदारनाथ झा मेरे परिचित थे। वे मुझसे एक कक्षा आगे पढ़ते थे, लेकिन हम एक ही स्कूल में पढ़ते थे। पास-पास घर होने से सामाजिक सम्बन्ध के और भी अनेक कारण थे। मैट्रिक के बाद उन्होंने शिक्षक-प्रशिक्षण लिया और मिडिल स्कूल में शिक्षक बने। सत्यापित भूकम्प 20 अगस्त 1988 को नेपाल-भारत सीमा क्षेत्र में आया और उत्तर बिहार में व्यापक क्षति हुई।

भूकम्प भोर में आया था। केदारबाबू का घर मिट्टी की दीवारों का था। सोते समय ही घर गिर पड़ा। परिवार के तीनों प्राणी मर गए। केवल पाँच वर्ष का एक बेटा बचा। लोगों को इसकी जानकारी सुबह छह बजे के बाद हुई, क्योंकि उस बीच सभी अपने-अपने परिवार, घर और आँगन देखने में लगे थे। जब खबर फैली कि अमुक का घर गिर गया है और लोग खोजने पहुँचे, तब पता चला कि सभी घर के भीतर दबे पड़े हैं। दीवार हटानी शुरू हुई तो एक व्यक्ति की टाँग दिखाई दी। फिर सावधानी से दीवार हटाकर तीनों शव निकाले गए।

भूकम्प आने से पहले चार-पाँच बार आवाज हुई थी। मेरी नींद खुल गई। उठकर खिड़की के पास गया कि कहीं सड़क पर कोई भारी गाड़ी तो नहीं जा रही है। लेकिन ऐसा कुछ नहीं था। तुरन्त घर से निकलकर

आँगन गया और सबको जगाया कि भूकम्प आ रहा है। सभी लोग निकलकर आँगन और घर की सीमा पार कर बाड़ी में चले गए।

आवाज सुनकर मैं भी केदारबाबू के यहाँ गया। दृश्य देखकर बोलती बन्द हो गई। एक पढ़े-लिखे अच्छे परिवार का पाँच वर्ष का बच्चा माता-पिता से विहीन होकर इस धरती पर अकेला रह गया था। उस बच्चे का भविष्य कैसा होगा? खैर, जो हुआ सो हुआ।

अब अपने जीवन की ओर आएँ। हाई स्कूल के समय से ही, यानी लगभग 1960 ई. से, परिवार का कुछ-न-कुछ भार कन्धे पर आने लगा था। किसान परिवार था, इसलिए देखते-देखते खेती का कुछ अनुभव भी हो गया।

एम.ए. की कक्षाएँ समाप्त हो चुकी थीं, लेकिन परीक्षा तीन बैच पीछे चल रही थी। मुझसे पहले के दो बैचों की भी परीक्षा नहीं हुई थी। 1967 के बाद पूरे देश और विशेष रूप से बिहार की राजनीति में जबरदस्त लहर आई। बिहार में पहली बार गैर-कांग्रेसी सरकार बनी। सत्ता में नए लोगों का प्रवेश हुआ और महामाया बाबू के नेतृत्व में नए कार्यक्रमों के साथ सरकार बनी। यद्यपि कुछ समय बाद सरकार टूट गई और फिर राजनीतिक परिवर्तन हुए। आगे कर्पूरी ठाकुरजी के नेतृत्व में भी गैर-कांग्रेसी सरकार बनी।

फिलहाल इतना ही कि मेरा मन पूरी तरह यह स्वीकार कर चुका था कि जीविका के लिए खेती करूँगा और समाज की सेवा करूँगा। वामपंथी राजनीति से प्रभावित होने के कारण राजनीतिक क्षेत्र भी खुला

दिखाई देता था और अवसर भी थे। जिस प्रकार बटाईदारी और सूदखोरी के विरुद्ध आन्दोलन खड़ा हुआ, उसी प्रकार कृषि-उत्पादन के विभिन्न पक्षों को पकड़कर समाज को भी सक्रिय किया गया।

अपने खेत की उपज बढ़ी और समाज की भी। नए-नए काम शुरू हुए और पुरानी पद्धतियों में भी नयापन आया। पूसा-21 धान और सोनरा-64 गेहूँ के बीज आए। उत्पादन अद्भुत रूप से बढ़ा। बाद में साकेत और सीता धान के बीज भी आए। गाँव के दर्जनों किसान कृषि कार्यक्रमों में गाँव से ब्लॉक, जिला और वहाँ से पूसा-ढोली महाविद्यालय तक भाग लेने लगे। जिस गाँव में कच्चे कट्ठे में एक मन, यानी लगभग तीस किलो धान होता था, उसी गाँव में, जहाँ साढ़े छह हाथ की लग्गी से जमीन नापी जाती थी, प्रति कट्ठा उपज बढ़कर 130 (एक सौ तीस) किलो तक पहुँच गई।

कृषि-जीवन के हर पक्ष पर समाज और मैंने अपनी दृष्टि दौड़ाई। मैं स्वयं काम में इतना अधिक जुट गया कि ताश-शतरंज खेलने का समय ही नहीं मिला। काम का स्वरूप ऐसा था कि 'रामदेव योग' की भी आवश्यकता नहीं पड़ी।

मुकेश दत्त: लेखक और पाठक की मनोदशा के सामंजस्य को एक साहित्यकार के रूप में आप कैसे देखते हैं?

ज.प्र.मं.: सम्पादकजी, पहले लेखक और पाठक, दोनों के मानसिक स्तर को देखना होगा। जब लेखक और पाठक के बौद्धिक तथा संवेदनात्मक स्तर में कुछ सामंजस्य होता है, तब रचना सहज रूप से पाठक तक

पहुँचती है। लेकिन दोनों के बीच दूरी अधिक हो तो ग्रहण करने में अन्तर आता है। रचनाकार उन्नीस और पाठक बीस हो तो रचना अधपकी लग सकती है, और रचनाकार बीस तथा पाठक उन्नीस हो तो वही रचना कच्चे फल की तरह खट-मधुर लग सकती है।

मैंने अपनी रचनाओं की शृंखला को समाज से जोड़कर चलने का प्रयास किया है। आरम्भिक रचनाओं और आज की रचनाओं में अन्तर आना स्वाभाविक है, क्योंकि समय के साथ अनुभव और दृष्टि भी बदलते हैं। इसलिए जो पाठक इन्हें क्रम से पढ़ेंगे, वे इस परिवर्तन को अधिक सहजता से समझ पाएँगे।

मूल प्रश्न यह है कि रचना समाज के बहुसंख्य लोगों के जीवन और सामाजिक ढाँचे को कितना पकड़ पाती है। समाज की पुरानी धारा में जो दूरी बन गई है, उसे समरस कैसे किया जाए, यह प्रश्न बना हुआ है। इसलिए वर्तमान परिवेश को पहचानते हुए समाज को दिशा देने वाली रचना अधिक उपयोगी होगी। जिस प्रकार पानी में हर मछली अपने रहने के स्तर और जीने की प्रकृति के अनुरूप रहती है, उसी प्रकार मनुष्य भी अपने सामाजिक परिवेश के भीतर अपनी स्थिति, अनुभव और संघर्ष के साथ जीता है। साहित्य का काम उसी जीवन को पहचानना और उसकी सच्चाई को रचना में स्थान देना भी है।

मुकेश दत्त: एक नाटककार के रूप में आप पाठक और दर्शक से क्या अपेक्षा रखते हैं?

ज.प्र.मं.: सम्पादकजी, नाटक की चर्चा पहले हो चुकी है। पिछली पीढ़ी के सामने जो दृश्य और सामाजिक

अनुभव थे तथा आज की पीढ़ी के सामने जो स्थिति है, दोनों के बीच बहुत बड़ी दूरी बन गई है। उसका प्रभाव समाज पर स्पष्ट दिखाई देता है। स्थिति यहाँ तक पहुँच गई है कि गाँव से बाहर रहने वाले व्यक्ति को अपने ही गाँव में अपने बाप-दादा का परिचय देना पड़ रहा है।

मुकेश दत्त: वर्तमान समय में मैथिली साहित्य की दशा-दिशा पर कुछ प्रकाश डालिए।

ज.प्र.मं.: सम्पादकजी, यदि साहित्य-रचना एक ही धारा में चलती रहती तो उसकी दशा-दिशा को समझना आसान होता, लेकिन ऐसा नहीं है। साहित्य अनेक धाराओं में प्रवाहित हो रहा है। हमारा वैदिक साहित्य सबके जीवन के कल्याण का विचार करता है, इसलिए हमारी जड़ें कमजोर नहीं हैं। कहा भी गया है, 'सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः...।' लेकिन जैसे-जैसे समय आगे बढ़ा और मनुष्य का विकास हुआ, वैसे-वैसे विचारों में कुटिलता भी आती गई। यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि हमारे समाज को हजारों वर्षों तक गुलामी का जीवन जीना पड़ा।

लेकिन अभी उस विस्तार में नहीं जाएँगे। मूल प्रश्न यह है कि देश के स्वतंत्र होने के बाद की रचनाधर्मिता और उससे पहले की रचनाधर्मिता किस दिशा में बह रही है। सबके मुँह से यह बात निकलती है कि संयुक्त परिवार समाप्त हो रहे हैं। अपने ही परिवार में लोग एक-दूसरे के लिए परिचित-अपरिचित होते जा रहे हैं। ऐसी परिस्थिति में क्या कहा जाए और कहाँ से कहा

जाए?

समाज के विचार-मंच पर अनेक प्रकार के पथ-प्रदर्शकों के विचार मौजूद हैं। वेद क्या कहता है, गीता क्या कहती है, बुद्धदेव ने क्या कहा, महावीर ने क्या कहा, विवेकानन्द ने क्या कहा, राम के माध्यम से रामायण के रचयिता तुलसी बाबा क्या कहते हैं, कृष्ण के माध्यम से सूर बाबा क्या कहते हैं और निर्गुण राम के माध्यम से कबीर बाबा क्या कहते हैं, ये सभी विचार समाज में मौजूद हैं।

शास्त्रों के भीतर प्रारम्भ से ही विचारों का विवाद रहा है। कोई अद्वैत मानता है तो कोई द्वैत। द्वैत के भीतर भी द्वैताद्वैत और विशिष्टाद्वैत जैसे मत हैं। इसी प्रकार बुद्धदेव और महावीर की विचारधाराओं में भी अन्तर है। कोई 'बहुजन हिताय' की बात करता है तो कोई 'सर्वजन हिताय' की। बुद्ध की विचारधारा के भीतर भी हीनयान और महायान जैसी धाराएँ बनीं।

सम्पादकजी, अपनी समझ के अनुसार मैंने मिथिला की स्थिति कही। जीवन के अनेक पक्ष इससे अलग भी हैं, लेकिन फिलहाल इतना ही कि रचना निष्पक्ष हो और कल्याणकारी हो। वही समाज की दशा और दिशा देखने का वास्तविक दर्पण बन सकती है।

मुकेश दत्त: साहित्य-जगत में चली आ रही अनेक परिपाटियों ने समाज के नवांकुर और उत्कृष्ट रचनाकारों को दबा दिया। आप इसे किस प्रकार देखते हैं?

ज.प्र.मं.: सम्पादकजी, यह संकीर्ण मानसिकता का खेल है, इसलिए मैं अपने को उससे अलग समझता हूँ। मेरा जीवन स्वतंत्र है और निष्पक्ष रूप से स्वतंत्र विचार

करने की अपनी धारणा है।

मेरी पहली पुस्तक 'गामक जिनगी' है, जो कथा-संग्रह है। 2008 ई. में 'सगर राति दीप जरय' का कार्यक्रम मधुबनी जिले के रहुआ में पारसनाथ मन्दिर पर हुआ, जहाँ साहित्यकारों का अच्छा जमावड़ा था। उसी कार्यक्रम में मैंने 'भैंटक लाबा' कथा का पाठ किया। लगभग एक घंटे तक केवल 'भैंट' शब्द की ही समीक्षा होती रही। खैर, जो हुआ सो हुआ। 2009 ई. में 'गामक जिनगी' कथा-संग्रह प्रकाशित हुआ। उसी संग्रह की पहली कथा 'भैंटक लाबा' है, जो पुस्तक में प्रकाशित होने से पहले ही साहित्यिक मंच पर आ चुकी थी। रमणजी ने कथा लेकर 'घर-बाहर' पत्रिका में प्रकाशित की।

साहित्य अकादेमी द्वारा मान्य भारतीय भाषाओं को क्रमशः सम्मिलित करने वाले 2011 के 'टैगोर लिटरेचर अवार्ड' में मैथिली के लिए मुझे 'गामक जिनगी' कथा-संग्रह पर पुरस्कार मिला। यह पुरस्कार साहित्य अकादेमी और सैमसंग इंडिया के सहयोग से स्थापित किया गया था और रचनाओं का निर्णय साहित्य अकादेमी द्वारा चुने गए निर्णायक मंडल के माध्यम से हुआ। पुरस्कार समारोह 12 जून 2012 को कोच्चि में आयोजित हुआ। अपने जीवन की घटित घटनाओं से आँखें मूँदकर मैं कैसे कह सकता हूँ कि साहित्य अकादेमी में केवल दोष ही है? इसी प्रकार अनेक साहित्यिक मंचों ने 'यात्री सम्मान', 'बाबू साहेब चौधरी सम्मान', 'विदेह सम्मान', 'वैदेह सम्मान', 'कौशिकी सम्मान' तथा पूर्वांचल और आसाम के अन्य सम्मान भी दिए।

सम्पादकजी, नवांकुर रचनाकारों से मैं कहना चाहूँगा कि हमारे समाज में आदिकाल से यह विचार रहा है कि लोभ मनुष्य को सुगति से हटाकर दुर्गति के रास्ते पर ले जाता है। इसलिए लोभ से बचते हुए अपना स्वतंत्र जीवन निर्मित करें, जिससे लोभ-मोह से मुक्त होकर स्वतंत्र विचार के साथ समाज और साहित्य, दोनों की सेवा कर सकें। वैसे भूमण्डलीकरण की जो हवा बह रही है, उसका भारी धक्का समाज के जीवन के प्रत्येक पक्ष पर लगा है। लेकिन मनुष्य भी मनुष्य है, अपने मन का राजा है। इसलिए समय के साथ तालमेल बैठा ही लेगा।

मुकेश दत्त: मैथिली साहित्य की इस दशा के लिए मैथिल, साहित्यकार और समाज दोनों, कितने और किस रूप में जिम्मेदार हैं?

ज.प्र.मं.: सम्पादकजी, प्रश्न साहित्यकार और समाज, दोनों का है, इसलिए दोनों को अलग-अलग देखना होगा। बहुत लम्बा उत्तर नहीं दूँगा। संक्षेप में इतना ही कि जो साहित्यकार सत्ता से जुड़े रहे, उनकी विचारधारा और व्यवहार में नए तथा पिछड़े परिवारों से आने वाले साहित्यकारों के प्रति वह अपनापन नहीं रहा जो होना चाहिए था। इससे साहित्यकारों के बीच बड़ी दूरी बन गई।

जहाँ तक समाज का प्रश्न है, समाज तो अनेक रंगों और रूपों से बना है। लेकिन कुल मिलाकर देखें तो समाज गाय की तरह निरीह होता है। उसकी जैसी सेवा करेंगे, वैसा ही दूध मिलेगा।

मुकेश दत्त: रचनाकार का पहला प्रयास पाठक के हृदय तक पहुँचना होता है। अपनी रचनाओं के माध्यम से इस प्रयास में आप स्वयं को कहाँ तक सफल मानते हैं?

ज.प्र.मं.: सम्पादकजी, अपने किए हुए काम की सफलता स्वयं मान लेने का प्रश्न नहीं है। रचना का प्रभाव और उसका मूल्यांकन पाठक ही करता है। मैं केवल अपनी रचना-प्रक्रिया के सम्बन्ध में कह सकता हूँ।

अब तक का मेरा जीवन गाँव की धरती से जुड़ा रहा है। इसलिए मुझे विश्वास है कि गाँवों में मेरे जैसे असंख्य लोग जीते हैं, जिनके जीवन, समस्याएँ, संघर्ष और अनुभव एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। गाँव समाज का निर्माण करता है और समाज भी गाँव को निरन्तर बनाता-बदलता रहता है। एक ही गाँव के भीतर अनेक रंग, अनेक स्तर और अनेक प्रकार के जीवन साथ-साथ रहते हैं।

अपनी रचनाओं में मैं समाज के जिस जीवन को विषय बनाता हूँ, उसकी वास्तविक धरती को पकड़ने का प्रयास करता हूँ। समस्याएँ देखी, भोगी और अनुभव की हैं। इसलिए रचना में केवल उनका बाहरी रूप नहीं, बल्कि भीतर की पीड़ा, संघर्ष और सामाजिक कारणों को भी छूने की कोशिश करता हूँ। मेरी रचना पाठक के हृदय तक कितनी पहुँचती है, इसका निर्णय पाठक ही करेगा। अपनी ओर से इससे अधिक मैं और क्या कह सकता हूँ?

मुकेश दत्त: आप अपनी नियमित वृत्ति से अलग साहित्यिक कर्म करते हुए और अपनी रचनाधर्मिता का निर्वाह करते हुए अनेक रचनाओं से मैथिली साहित्य को समृद्ध कर

चुके हैं। भविष्य की क्या योजना है?

ज.प्र.मं.: सम्पादकजी, आपने साहित्यिक कर्म और जीवन-कर्म को दो अलग क्षेत्रों की तरह रखकर प्रश्न किया है। जीवन-वृत्ति के अन्तर्गत ही अपने जीवन का भरण-पोषण और सामाजिक जीवन का निर्वाह होगा। एक आर्थिक वृत्ति है और दूसरी बौद्धिक। शरीर और मन में अन्तर है। मेरी नियमित जीवन-वृत्ति, अर्थात कर्म, चलता रहा है। जिस प्रकार निश्चित समय अर्थोपार्जन में लगाता हूँ, उसी प्रकार निश्चित समय सृजन में भी लगाता हूँ। इससे दोनों काम अपनी-अपनी गति से चलते रहते हैं। इससे अधिक और क्या किया जा सकता है?

जहाँ तक भविष्य की योजना का प्रश्न है, मैं भूत, वर्तमान और भविष्य को तीन कालखण्डों में देखता हूँ। अधिक क्या कहूँ, मैं वर्तमान में जीता हूँ। वर्तमान में जो कर्म होगा, वही भविष्य का निर्माण करेगा। भविष्य के लिए कोई अलग कल्पना या सपना मन में नहीं रखता।

मुकेश दत्त: क्या कोई ऐसी साहित्यिक विधा बची है जिसमें आपने अभी काम न किया हो और निकट भविष्य में उस विधा की कोई रचना आने वाली हो?

ज.प्र.मं.: सम्पादकजी, पिछले प्रश्न के उत्तर में कह ही चुका हूँ कि वर्तमान में जीता हूँ। अभी कथा और उपन्यास का काम चल रहा है, इसलिए किसी अलग विधा की योजना मन में नहीं है। जहाँ तक साहित्यिक विधाओं

का प्रश्न है, वे अनन्त हैं। जैसे तुलसी बाबा ने कहा है, 'हरि अनन्त हरि कथा अनन्ता', उसी प्रकार साहित्य भी अनन्त है। उस अथाह समुद्र की थाह हम कितनी पा सकते हैं? बस इतना है कि जब तक मन शरीर के साथ और शरीर मन के साथ जागृत रहकर चलता रहे, सृजन भी चलता रहे।

मुकेश दत्त: अन्त में नवयुवक रचनाकारों के लिए कुछ सन्देश देना चाहेंगे?

ज.प्र.मं.: सम्पादकजी, नवयुवकों को मैं क्या सन्देश दूँ? वे तो स्वयं सन्देशवाहक हैं। वे अपनी शक्ति को जगाएँ और स्वयं को पहचानें, ताकि उनकी जवानी पानी में बह न जाए। इससे अधिक क्या कहूँ। ❑

परिसंवाद:
श्री जगदीश प्रसाद मण्डल के साथ
सौम्या झा

ज.प्र.मं.: आपकी जिज्ञासा के लिए धन्यवाद, सौम्याजी। पूछिए, मेरे परिचय के सम्बन्ध में जो जानना चाहती हैं।

सौम्या झा: अपने गाँव, जन्मस्थान, शिक्षा-दीक्षा और पारिवारिक पृष्ठभूमि के बारे में पाठकों को विस्तार से बताइए।

ज.प्र.मं.: मेरा जन्मस्थान बेरमा गाँव है। छोटा-सा गाँव होते हुए भी यह 1952 ई. से पंचायत है। 1934 ई. के भूकम्प में गाँव के मिट्टी की दीवारों वाला स्कूल गिर गया था। उस स्थान को अशुभ मानकर स्कूल दूसरी जगह बनाया गया। उसी लोअर प्राइमरी स्कूल से मेरी शिक्षा प्रारम्भ हुई। अब वह विद्यालय आठवीं कक्षा तक है। बाद में कछुबी मिडिल स्कूल, केजरीवाल हाई स्कूल झंझारपुर, जनता कॉलेज और सी.एम. कॉलेज, दरभंगा में पढ़ा। सी.एम. कॉलेज से ऑनर्स और एम.ए. किया।

हमारा परिवार बाहर से आकर बेरमा गाँव में बसा है। पूर्वजों का घर जनकपुर से तीन कोस पूरब था। वहाँ से वे बेरमा आए। इसकी एक रोचक कथा है। आगे अवसर मिला तो बताऊँगा।

मैं दो भाइयों में छोटा हूँ। बड़े भाई मुझसे तीन वर्ष बड़े थे। जब मैं तीन वर्ष का था, तभी पिताजी का निधन हो गया। उस समय माँ की उम्र लगभग पच्चीस-तीस वर्ष थी। भाइयों में पिताजी अकेले थे, इसलिए माँ की देखरेख में ही परिवार आगे बढ़ा। 1993 ई. तक उनका स्नेह और संरक्षण मिलता रहा।

सौम्या झा: आपकी साहित्यिक यात्रा कब शुरू हुई? अपनी पूरी साहित्यिक यात्रा के बारे में विस्तार से बताइए।

ज.प्र.मं.: मेरी साहित्यिक यात्रा 2000 ई. के बाद शुरू हुई, जब मैं पचास वर्ष की आयु पार कर चुका था। जिस प्रकार राजा दशरथ ने कान के पास सफेद होते बाल देखकर राम को राजगद्दी सौंपने का विचार किया था, उसी प्रकार अपने शरीर को शिथिल होता देखकर मैंने साहित्यिक यात्रा प्रारम्भ की। प्रत्येक तीन महीने पर 'सगर राति दीप जरय' साहित्यिक कार्यक्रम होता है। उसमें मेरी कम-से-कम दो, नहीं तो तीन पुस्तकों का लोकार्पण होता रहा है। मेरी सौ से अधिक पुस्तकें प्रकाशित हैं, जिनमें कथा, उपन्यास, कविता, नाटक, एकांकी आदि विधाओं की रचनाएँ शामिल हैं।

सौम्या झा: साहित्यिक यात्रा के दौरान सबसे बड़ी चुनौती क्या रही?

ज.प्र.मं.: साहित्यिक यात्रा में सबसे बड़ी चुनौती यही दिखाई देती है कि फणीश्वरनाथ 'रेणु' जैसे साहित्यकार को भी मैथिली साहित्य-जगत में समुचित स्थान नहीं मिल सका। 1960 ई. से पहले रेणुजी मैथिली में भी लिखा

करते थे। यह हमारा दुर्भाग्य है कि मैथिली जगत ने पद्म पुरस्कार से सम्मानित ऐसे साहित्यकार को खो दिया। चुनौती क्या है, यह सबके सामने है। सम्बन्ध बना रहा तो आगे और भी बातचीत होगी।

सौम्या झा: 'पंगु' के लिए आपको साहित्य अकादेमी पुरस्कार प्राप्त हुआ। सबसे पहले बधाई। 'पंगु' का विचार कैसे आया और यह किसके विषय में है?

ज.प्र.मं.: 'पंगु' उपन्यास का विचार कहीं बाहर से आयातित नहीं है। मेरे बीस उपन्यासों में 'पंगु' भी एक उपन्यास है। वैसे ऐतिहासिक दृष्टि से देखें तो यात्रीजी, अर्थात वैद्यनाथ मिश्र 'यात्री', जो हिन्दी साहित्य-जगत में 'नागार्जुन' के नाम से भी जाने जाते हैं, उनके 'बलचनमा' की अगली कड़ी जैसा यह उपन्यास प्रतीत हो सकता है।

सौम्या झा: आगे हम किस पुस्तक की प्रतीक्षा करें? आपकी आगे की क्या योजना है?

ज.प्र.मं.: 31 दिसम्बर 2022, शनिवार को होने वाली अगली कथा-गोष्ठी, अर्थात 'सगर राति दीप जरय' का अगला कार्यक्रम, रहुआ संग्राम में डॉ. अशोक कुमार झा 'अविचल'जी के संयोजकत्व में होगा। वहाँ मेरी तीन पुस्तकों का लोकार्पण होगा, दो कथा-संग्रह और एक उपन्यास।

"को बड़ छोट कहत अपराधू।" कथा और उपन्यास में कौन बड़ा और कौन छोटा, यह कहना मेरे लिए कठिन है। जिस प्रकार कथा-यात्रा ने 'टैगोर लिटरेचर

अवार्ड' दिया, उसी प्रकार उपन्यास ने 'साहित्य अकादेमी पुरस्कार' दिया। इसलिए मेरा कोई निश्चित लक्ष्य नहीं है। यह एक अनवरत यात्रा है। जब जैसा समय आए, वैसा ही सृजन होता रहे।

सौम्या झा: नई पीढ़ी आजकल मैथिली में खूब लिख रहे हैं। उनके लिए कोई सुझाव या कुछ टिप्स?

ज.प्र.मं.: अतीत को भूलिए नहीं, लेकिन वर्तमान को अपना जीवन बनाइए।

सौम्या झा: मैथिली में साहित्यिक रचना करने वालों के लिए आपकी ओर से क्या सन्देश है? विशेष रूप से किन विषयों पर अभी रचना की आवश्यकता है?

ज.प्र.मं.: साहित्यकारों से मैं क्या कहूँ? वे स्वयं जानते हैं कि सत्ता के साथ साहित्य का सम्बन्ध और उसकी भूमिका कैसी होनी चाहिए। ❑

मैथिली साहित्य : वर्तमान परिदृश्य
परिसंवाद : श्री जगदीश प्रसाद मण्डल के साथ
संजीव सिन्हा

संजीव सिन्हा: भारतीय साहित्य में मैथिली साहित्य की कितनी प्रतिष्ठा है?

ज.प्र.मं.: जिस प्रकार अन्य भाषाओं के साहित्य की प्रतिष्ठा है, उसी प्रकार मैथिली साहित्य की भी प्रतिष्ठा है। किसी साहित्य की समृद्धि और प्रतिष्ठा उस साहित्य के समाज पर निर्भर करती है, क्योंकि साहित्य समाज का दर्पण है। जिस समाज का जैसा जीवन होगा, उसके साहित्य की प्रतिष्ठा भी उसी के अनुरूप होगी। किसी समाज का जीवन वहाँ की भौगोलिक बनावट, परिवेश आदि पर भी निर्भर करता है। इस दृष्टि से मैथिली साहित्य और मैथिल समाज जितने प्राचीन हैं, उतने ही सम्पन्न भी हैं। मिथिला का समाज सदैव नैतिक मूल्यों का महत्त्व समझता आया है और अपने जीवन को भी नीतिपरक बनाने का प्रयास करता रहा है। वैसे सम्पूर्ण मैथिल समाज न तो कभी एक समान रहा है और न आज है।

आजादी से पहले, अर्थात 1947 ई. से पूर्व भी देश अनेक राज्यों में विभाजित था और आज भी है। स्वतंत्रता से पहले इनकी संख्या और अधिक थी।

छोटे-छोटे राजा-रजवाड़े हजारों की संख्या में थे। उनकी अपनी-अपनी शासन-व्यवस्था थी और कला-संस्कृति का भी अपना स्वरूप था। कुछ बातें एक-दूसरे से मिलती-जुलती भी थीं। उसी के अनुरूप उनका साहित्य भी था।

आज के साहित्यिक परिदृश्य में अन्य भारतीय साहित्यों की तरह मैथिली साहित्य की भी प्रतिष्ठा है। एम.ए., पीएच.डी., सिविल सेवा आदि में मान्यता प्राप्त बाईस भाषाओं के बीच मैथिली की भी प्रतिष्ठित स्थिति है। हाँ, इतनी कमी अवश्य दिखाई देती है कि अन्य भाषा-साहित्यों की तरह मैथिली में 'पद्म पुरस्कार' नियमित रूप से नहीं मिलते।

निष्कर्ष रूप में यही कह सकता हूँ कि जिस प्रकार अन्य भाषा-साहित्यों की प्रतिष्ठा है, उसी प्रकार मैथिली साहित्य की भी है। इसमें हमें तनिक भी सन्देह नहीं करना चाहिए।

संजीव सिन्हा: इस समय मैथिली साहित्य का कैसा परिदृश्य है?

ज.प्र.मं.: परिदृश्य तो सबके सामने है। साहित्य समाज से अलग कोई वस्तु नहीं है। इसलिए समाज की स्थिति देखेंगे तो साहित्य की स्थिति भी समझ में आएगी। हमारी रोहू मछली हो या मालदह आम, आज भी लगभग वैसा ही है जैसा बाबा-दादा के समय था। प्रश्न यह है कि क्या मिथिला ने वैज्ञानिक पैदा नहीं किए, जो अपने सर्वोत्तम फलों और मछलियों पर शोध और संवर्द्धन करके उन्हें दुनिया के बाजार तक पहुँचा सकते? बीती हुई बातों पर एक मुट्ठी राख डालकर उन्हें

ढक दीजिए। आज की मूल आवश्यकता क्या है, उस पर विचार कीजिए।

आर्थिक जीवन की कुछ आवश्यकताएँ सरकारी योजनाओं से कम हुई हैं, लेकिन समाज की समस्याएँ केवल भोजन तक सीमित नहीं हैं। दहेज और शिक्षा का वर्तमान स्वरूप परिवारों पर आर्थिक दबाव डाल रहा है और उनके बीच टूटन पैदा कर रहा है। साहित्य यदि इस बदलते जीवन को नहीं पकड़ेगा तो समाज से उसकी दूरी बढ़ेगी।

वैचारिक क्षेत्र में भी समस्याएँ कम नहीं हैं। समाज में जाति-जाति का भेद आज भी है। जातियों के भीतर भी कुल-मूल के आधार पर अनेक विभाजन हैं। जब तक स्वयं को दूसरे से ऊँचा और दूसरे को नीचा समझने का विचार रहेगा, तब तक वैमनस्य भी बना रहेगा। मैथिली साहित्य के सामने प्रश्न यह है कि वह इस वास्तविकता को कितनी गहराई से देखता है और समाज को विचार करने की दिशा कितनी देता है। वहाँ हमारा क्या दायित्व बनता है, यह हमें स्वयं विचारना होगा।

जहाँ तक साहित्यिक समृद्धि की बात है, अन्य भाषाओं में जिस प्रकार साहित्य-सृजन हुआ है, उसमें मैथिली भी पीछे नहीं है। भाषा की दृष्टि से वह प्राचीन भी है। आठ-आठ सौ कथाएँ और बीस-बीस उपन्यास लिखने वाले रचनाकार भी मैथिली में हैं। इसलिए अपने भीतर कभी यह हीनभावना मत लाइए कि हम किसी भाषा-साहित्य से पीछे हैं। रचनाकारों की दृष्टि से मैथिली को देखें तो लगभग सवा सौ वर्षों

के भीतर हुए रचनाकारों और उनके सृजन की समृद्धि अपने-आप सामने दिखाई देगी।

संजीव सिन्हा: मैथिली साहित्य में कौन-कौन से वाद, विमर्श और आन्दोलन चले हैं? वर्तमान में किस साहित्यिक प्रवृत्ति की प्रधानता है?

ज.प्र.मं.: आन्दोलन के रूप में मैथिली भाषा-साहित्य के इतिहास में बनारस, बंगाल और बिहार, तीनों को देखा जा सकता है। बनारस में हस्तलिखित पत्रिकाओं और काञ्चीनाथ झा 'किरण'जी जैसे साहित्यकारों के कठिन श्रम से विश्वविद्यालय तक मैथिली के प्रवेश का मार्ग बना। बंगाल की धरती पर भी मैथिली के एक-से-एक योद्धा और सपूत हुए। कलकत्ता विश्वविद्यालय ने मैथिली भाषा को सबसे पहले मान्यता दी। बिहार में भी भाषा और साहित्य के पक्ष में निरन्तर गतिविधियाँ होती रही हैं, भले सभी स्थानों पर उनकी सघनता समान न रही हो।

वाद और विमर्श के स्तर पर समय-समय पर समाज, जाति-वर्ण, नारी, शोषण, लोकजीवन, भाषा और बदलते जीवन-मूल्यों से जुड़े प्रश्न साहित्य में उठते रहे हैं। लेकिन मेरी दृष्टि में किसी वाद के नाम से अधिक महत्त्वपूर्ण यह है कि साहित्य अपने समय के जीवन-सत्य को कितनी गहराई से पकड़ पाता है।

जहाँ तक वर्तमान साहित्यिक प्रवृत्ति का प्रश्न है, वह आज भी बहुत हद तक अतीतोन्मुखी है। आवश्यकता उसे समसामयिक बनाने की है। अब हम इक्कीसवीं शताब्दी के वैज्ञानिक युग में हैं। साधन

बदल गए हैं, समय की गति बदल गई है। जिस काम में पहले बहुत समय लगता था, नई तकनीक उसी काम को बहुत कम समय में पूरा कर देती है। इसलिए साहित्य के विषय, दृष्टि और अभिव्यक्ति को भी समय के साथ आगे बढ़ना चाहिए।

संजीव सिन्हा: मैथिली साहित्य के सामने क्या समस्याएँ और चुनौतियाँ हैं?

ज.प्र.मं.: सम्पादकजी, समस्या और चुनौती को पहले अलग-अलग समझ लीजिए। साथ ही उन्हें दो कालखण्डों में भी देखा जा सकता है। पहला, अतीत से चली आ रही समस्याएँ और चुनौतियाँ और दूसरा, समसामयिक समस्याएँ और चुनौतियाँ।

जिस प्रकार भाषा के साथ समस्याएँ रही हैं, उसी प्रकार साहित्य के साथ भी। भाषा का वाहन लिपि भी होती है, लेकिन जहाँ बच्चा आज भी स्कूल तक नहीं पहुँच पाता, वहाँ केवल लिपि के विवाद में उलझे रहना समाधान नहीं है।

साहित्य समाज का दर्पण भी है और समाज को दिशा-बोध कराने वाला माध्यम भी। प्रश्न यह है कि साहित्य समाज के वास्तविक जीवन से कितना जुड़ा है। अब तक का साहित्य वैचारिक रूप से भले हितैषी रहा हो, लेकिन व्यावहारिक जीवन से उसकी दूरी अनेक स्थानों पर बनी रही है। इस दूरी को कम करना समसामयिक चुनौती का एक बड़ा हिस्सा है। चुनौतियाँ हमेशा रहेंगी, लेकिन उनका सामना समयानुकूल विचार और कर्म से करना होगा।

संजीव सिन्हा: मिथिला की अन्य भाषाओं, अंगिका और बज्जिका के लेखकों के साथ मैथिली लेखकों का संवाद कैसा है?

ज.प्र.मं.: बिहार में अनेक भाषाओं और बोलियों का चलन आज से नहीं, बहुत पहले से है। उन्हीं के बीच समाज चलता रहा है, साहित्य विकसित होता रहा है और एक-दूसरे के बीच संवाद भी बना रहा है। अंगिका, बज्जिका और मैथिली के लेखकों के बीच संवाद को भी इसी व्यापक सामाजिक-सांस्कृतिक सम्बन्ध के भीतर देखना चाहिए।

भाषाएँ अपनी-अपनी क्षेत्रीय पहचान रखते हुए भी एक-दूसरे से कटकर नहीं जीतीं। सांस्कृतिक मंच पर शारदाजी, अर्थात श्रीमती शारदा सिन्हाजी, जिस प्रकार बिहार की विभिन्न भाषाओं में अपनी कला प्रस्तुत करती हैं, उसी प्रकार रोजमर्रा के जीवन, कारोबार, आवागमन और सांस्कृतिक मेल-जोल में भी विभिन्न भाषाओं और बोलियों के लोग एक-दूसरे से संवाद करते रहते हैं। यही स्वाभाविक सम्बन्ध साहित्यिक संवाद का भी आधार बनता है।

संजीव सिन्हा: मैथिली साहित्य में नए लेखकों के लिए किस प्रकार के अवसर और सम्भावनाएँ हैं?

ज.प्र.मं.: नए लेखक के लिए, अथवा कहें नए लेखन के लिए, अवसर कहीं बाहर से नहीं आते। अवसर समाज में पहले से मौजूद रहते हैं। उन्हें पहचानने और उनका उपयोग करने की क्षमता लेखक की अपनी दृष्टि पर निर्भर करती है। व्यक्ति केवल समाज की इकाई नहीं,

दुनिया की भी इकाई है। वह अपने लेखन, श्रम और दृष्टि से इकाई-दहाई से बढ़ते हुए लाखों-करोड़ों लोगों तक कैसे पहुँचेगा, यह जिम्मेदारी स्वयं लेखक की है। इसलिए अवसर की प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिए, अपने काम से अवसर बनाना पड़ता है।

साहित्य समाज से जुड़ी वस्तु है। जैसा समाज होगा, वैसा ही साहित्य होगा। समाज रहेगा तो साहित्य भी रहेगा। समाज बदलेगा तो साहित्य के विषय, स्वरूप और आवश्यकताएँ भी बदलेंगी। इसलिए नए लेखक के लिए सम्भावनाएँ हैं और आगे भी रहेंगी। आवश्यकता केवल इतनी है कि वह समाज को ध्यान से देखे, अपनी दृष्टि विकसित करे और निरन्तर लिखता रहे। बस, फिलहाल इतना ही। ❑

Notes